॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥
६
-पं श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रज्ञोपनिषद्

षष्ठ खंड

☆

संपादक

ब्रह्मवर्चस

☆

प्रकाशक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा—२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

प्राक्कथन

परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने 'प्रज्ञापुराण' के रूप में जन-जन को लोक-शिक्षण का एक नया आयाम दिया है। इसमें उनने चिरपुरातन उपनिषद् शैली में आज के युग की समस्याओं का समाधान दिया। यह क्रांतिदर्शी चिंतन उनकी लेखनी से जब निस्सृत हुआ तो इसने पूरे क्षेत्र को उद्वेलित करके रख दिया। वस्तुतः यह पुरुषार्थ हजारों वर्षों बाद सप्तर्षियों की मेधा के समुच्चय को लेकर जन्मे प्रज्ञावतार के प्रतिरूप आचार्यश्री द्वारा जिस तरह किया गया, उसने इस राष्ट्र व विश्व की मनीषा को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया।

प्रज्ञा पुराण की रचना परमपूज्य गुरुदेव ने क्यों की? इस तथ्य को समझने के लिए प्रज्ञा पुराण के प्रथम खंड की भूमिका में उनके द्वारा लिखे गए अंश ध्यान देने योग्य हैं—'अपना युग अभूतपूर्व एवं असाधारण रूप से उलझी हुई समस्याओं का युग है। इनका निदान और समाधान भौतिक-क्षेत्र में नहीं, लोक-मानस में बढ़ती जा रही आदर्शों के प्रति अनास्था की परिणति है। काँटा जहाँ चुभा है, वहीं कुरेदना पड़ेगा। भ्रष्ट-चिंतन और दुष्ट आचरण के लिए प्रेरित करने वाली अनास्था को निरस्त करने के लिए ऋतंभरा महाप्रज्ञा के दर्शन एवं प्रयोग ब्रह्मास्त्र ही कारगर हो सकता है।

प्रस्तुत प्रज्ञा पुराण में भूतकाल के उदाहरणों से भविष्य के सृजन की संभावना के सुसंपन्न हो सकने की बात गले उतारने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि परिवर्तन प्रकरण को संपन्न करने के लिए वर्तमान में किस रीति-नीति को अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी और किस प्रकार जाग्रतात्माओं को अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना होगा।

उन्होंने इसे उपनिषद् शैली में ऋषियों के संवाद रूप में प्रकट किया। जनसामान्य के लिए पुराणों वाली कथा-शैली अधिक रुचिकर एवं ग्राह्य होती है, इसलिए उन्होंने उपनिषद् सूत्रों के साथ प्रेरक कथानक एवं संस्मरण जोड़कर उसे पुराण रूप दिया। इस रूप में चार खंड प्रकाशित हुए, यह इतने लोकप्रिय हुए कि सन् १९७९ से अब तक बीस से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वाध्यायशीलों के लिए उन्होंने इसे प्रज्ञोपनिषद् के रूप में प्रकाशित करने का भी निर्देश दिया था। आचार्यश्री के वाङ्मय की इकाई के रूप में इसके छह खंडों को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया गया। उसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता को देखते हुए स्वाध्याय-प्रेमियों की सुविधा की दृष्टि से प्रज्ञोपनिषद् के छहों खंडों को अलग-अलग केवल श्लोक एवं टीका के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इसका नियमित स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए पूज्य आचार्यश्री ने प्रारंभिक निर्देशों में लिखा—

"दैनिक स्वाध्याय में इसका प्रयोग करना हो तो गीता पाठ, रामायण पाठ, गुरुग्रंथ साहब स्तर पर ही इसे पवित्र स्थान एवं श्रद्धाभरे वातावरण में धूप, दीप, अक्षत, पुष्प जैसे पूजा-प्रतीकों के साथ इसका वाचन करना-कराना चाहिए। जो पढ़ा जाए, समझ-समझकर धीरे-धीरे ही। प्रतिपादनों को अपने जीवनक्रम में सम्मिलित कर सकना, किस प्रकार, किस सीमा तक संभव हो सकता है, यह विचार करते हुए रुककर पढ़ा जाए।"

छहों खंडों की विषयवस्तु इस प्रकार है—प्रथम खंड में आज के युग की समस्याओं के मूल कारण आस्था-संकट का विवरण है। द्वितीय खंड धर्म के आधारभूत शाश्वत गुणों पर, तृतीय खंड परिवार-संस्था, गृहस्थ जीवन, नारीशक्ति के विभिन्न पक्षों पर, चतुर्थ खंड देव संस्कृति के आज लुप्त हो रहे उन पक्षों पर केंद्रित है, जिन पर भारतीय धर्म टिका है। पाँचवाँ खंड सर्वधर्म सद्भाव को समर्पित है, जो विश्व धर्म का भविष्य में आधार बनेगा। अंतिम छठा खंड वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की धुरी पर लिखा गया है। आर्य संस्कृति के यज्ञ विज्ञान, परोक्ष जगत आदि पक्ष वैज्ञानिक धर्म की पृष्ठभूमि में समझाए गए है।

उक्त छह प्रकरणों को पृथक-पृथक पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित करने का उद्देश्य यह है कि विज्ञजन इसका पाठ-अध्ययन नियमित रूप से करते रह सकें। इससे युगऋषि द्वारा अवतारित युगांतरकारी सूत्र जन-जन के विचारों एवं आचरण में प्रवेश करके युग परिवर्तन-उज्ज्वल भविष्य का ठोस आधार तैयार कर सकेंगे।

युगऋषि-प्रज्ञापुरुष की जन्म शताब्दी (२०११-२०१२) की तैयारी की वेला में उनका ही रचा यह युगदर्शन उन्हीं के चरणों में समर्पित है।

—ब्रह्मवर्चस

भूमिका

युगदर्शन युग-साधना के प्रकटीकरण हेतु ऋषि की अंतर्प्रज्ञा से उद्भूत इस महत्त्वपूर्ण खंड की विषयवस्तु विज्ञान और अध्यात्म से जुड़े संदर्भों एवं ऋषिपरंपरा के पुनर्जीवन पर केंद्रित है।

प्रथम अध्याय में देवर्षि नारद उत्तराखंड के हिमालय-क्षेत्र में ऋषिजनों को ले जाते हैं। देवात्मा हिमालय प्रकरण ही इसका शीर्षक है। वे देवताओं, ऋषियों एवं सामान्य जनों की व्याख्या करते हैं। उत्तराखंड की विशिष्ट गरिमा प्रतिपादित करते हुए देवर्षि यहाँ योग व तप का विशेष महत्त्व बताते हैं।

दूसरा अध्याय 'ऋषि' प्रकरण पर केंद्रित है। प्रवास पर चलते हुए वे हिमालय में तपश्चर्यारत ऋषिगणों की तपःस्थलियाँ बताते हैं। महर्षि व्यास, परिव्राजक मनीषियों के तपस्थान आदि बताते हुए वे तीर्थयात्रा का महत्त्व भी समझाते हैं। ऋषिकुल-गुरुकुल किस तरह के होते हैं, यह भी बताते हैं। तीर्थ एक प्रकार से प्रेरणा के केंद्र होते हैं, किंतु जहाँ ऋषि रहते हैं, वहाँ स्वतः एक तीर्थ बन जाता है, यह बताते हैं।

तीसरा अध्याय देवर्षि के साथ 'हिमाद्रि-हृदय' के गुह्यतम रहस्यों को जानने पर केंद्रित है। सारा अध्याय हिमालय की महत्ता, गंगा नदी का माहात्म्य, चेतना के ध्रुवकेंद्र के रूप में इसके स्वरूप एवं यहाँ किए जाने वाले तप के महत्त्व पर आधारित है।

चौथा अध्याय 'अदृश्यलोक' प्रकरण के रूप में परोक्ष जगत की विज्ञान सम्मत संस्कृति प्रधान चर्चा करता है। देवर्षि प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों का महत्त्व समझाते हैं एवं परोक्ष स्तर पर चल रहे क्रिया-कलापों के विषय में बताते हैं। प्रतिपदार्थ-प्रतिविश्व की भी उनकी बड़ी सटीक विवेचना इसमें आई है।

पाँचवाँ अध्याय 'यज्ञ विज्ञान-वनस्पति विज्ञान' प्रकरण पर आधाति है। आहार, विद्या, दिव्य वनस्पतियों से काया-कल्प, अग्निहोत्र एवं पदार्थ की कारणशक्ति के उभार हेतु यज्ञ विज्ञान की व्याख्या उनने की है। यजन-प्रक्रिया पूर्णतः विज्ञान सम्मत है एवं पर्यावरण के लिए हितकारी भी।

छठा अध्याय 'आत्मशोधन' प्रकरण पर है। देवर्षि इस प्रकरण का माहात्म्य बताते हुए जिज्ञासु ऋषियों को उन सिद्धपुरुषों के कार्यक्षेत्र दिखाते हैं, जिनने आत्मपरिष्कार की साधना से दिव्य विभूतियाँ अर्जित कीं। सच्चे भक्त कैसे बनें, आत्मशोधन व परमार्थ में निरत कैसे हों? यह मर्म जानकर सब कृतकृत्य हो जाते हैं।

सातवाँ और अंतिम अध्याय 'ऋषिपरंपरा पुनर्जीवन' प्रकरण पर टिका है। प्रश्न यह है कि हिमालय वही है, संस्कृति वही है फिर ऋषिपरंपरा आज तिरोहित क्यों हो गई? देवर्षि कारण बताते हैं, फिर सभी को प्रेरणा देते हैं कि सप्तर्षि क्षेत्र में सभी ऋषि जाकर उन परंपराओं को पुनर्जाग्रत करें। इस संयुक्त प्रयास को वे 'प्रज्ञा अभियान' नाम देते हैं एवं स्थान को गायत्री तीर्थ। यह समग्र प्रकरण हर परिजन के लिए प्रेरणादायी एवं पुण्य देने वाला है।

—**ब्रह्मवर्चस**

प्रज्ञोपनिषद्

षष्ठ मंडल

विषय-सूची	पृष्ठ सं०

॥ गुरु-ईश-वंदना ॥

गुरु-ईश-वंदना के इन श्लोकों से भावपूर्ण वंदना करके 'प्रज्ञोपनिषद्' का पारायण प्रारंभ किया जा सकता है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप! ॥
भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
नमस्ते नमस्ते विभो! विश्वमूर्ते! नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते!।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य ! नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य!॥
वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥

ॐ वन्दे भगवतीं देवी, श्रीरामञ्च जगद्गुरुम्।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा, प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, गायत्री रूपिणे सदा।
यस्य वागमृतं हन्ति, विषं संसार संज्ञकम्॥

ॐ प्रखर प्रज्ञाय विद्महे, महाकालाय धीमहि, तन्नः श्रीरामः प्रचोदयात्॥ ॐ सजल श्रद्धायै विद्महे, महाशक्त्यै धीमहि, तन्नो भगवती प्रचोदयात्॥

॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥

॥ षष्ठ मंडल ॥

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

देवात्मा हिमालय प्रकरण

पुण्यं पर्वावतारस्य भागीरथ्यास्तु विद्यते ।
भगवत्या ज्येष्ठशुक्लदशमी तिथिरुत्तमा ॥ १ ॥
तस्मिन्नेव दिने तस्य हिमाद्रेर्देवतात्मनः ।
गर्भाद् विनिसृतायास्तु गंगाधरजटालयात् ॥ २ ॥
च्युताया दिव्यतोयाया अमृताम्भस एव च ।
कृते श्रद्धाञ्जलीन् कर्तुमवगाहनजं तथा ॥ ३ ॥
लब्धुं लाभमसंख्यास्तु जनाः श्रद्धालवः सदा ।
समायान्ति मुदा दूरदेशाद् यात्रा प्रसंगतः ॥ ४ ॥
गंगोत्रीं गोमुखं यान्ति शिवलिंगतपोवनम् ।
कैलासं नन्दनं मेरुं मानसं स्फटिकोपमम् ॥ ५ ॥
स्वर्गारोहण-भूभागं मार्गमुल्लंघ्यदुर्गमम् ।
यान्ति लोका वदन्त्येव हिमाद्रेर्हृदयं च यत् ॥ ६ ॥
विद्यते चेदमेवाहो महाप्रज्ञात्मनः प्रियम् ।
गायत्र्या जन्मनश्चापि पुण्यं दिव्यं हिमं महत् ॥ ७ ॥
स्वर्गे सुगन्धसंयोग इव चैतादृशाः शुभाः ।
क्वचनावसरा लोके दृश्यन्ते पुण्यदायिनः ॥ ८ ॥

टीका—भगवती भागीरथी का अवतरण पर्व, ज्येष्ठ शुक्लपक्ष की दशमी तिथि का है। उस दिन देवात्मा हिमालय के गर्भ से, शिवजी की से प्रादुर्भूत अमृत सलिला जाह्नवी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए दूर-दूर देशों से प्रसन्न मन अगणित श्रद्धालुजन यात्रा करते हैं। गंगोत्तरी गोमुख पहुँचते हैं। कई तो तपोवन, नंदनवन, शिवलिंग, कैलाश, स्फटिक स्वच्छ मानसरोवर, सुमेरु, स्वर्गाहरण के उपभोग तक दुर्गम मार्ग को पार करते हुए पहुँचते, जिसे 'हिमालय का हृदय' कहा जाता है। यही ज्येष्ठ शुक्ल दशमी का दिन महाप्रज्ञा गायत्री का प्रिय दिव्य पुण्यदायी अवसर कदाचित् ही कहीं दृष्टिगोचर होते हैं॥ १-८॥

पुण्ये पर्वणि तस्मिंश्च समायाता सुदूरतः।
संगता एकदा सर्वे मुनयश्च मनीषिणः॥ ९॥
गंगावतार-पुण्ये च स्थाने तैः शिविरायितैः।
पूर्वकाले समायाते स्नानं ध्यानमथापि च॥ १०॥
जपतर्पण-मुख्यानि धर्म-कृत्यानि यान्यपि।
विहितानि मनोबुद्धि-कायसंस्कारकाण्यलम्॥ ११॥
प्रेमपूर्वकमेतेऽथ मिलितास्तु परस्परम्।
बभूवुः परिचिताः सर्वे संगतैः प्रथमं जनैः॥ १२॥
एकत्रितानि पूर्वं हि वन्यैः पर्वागतस्य तु।
धर्मात्मनो जनस्यात्र कंदमूलफलान्यलम्॥ १३॥
आरोग्यदानि संप्राप्य सर्वैरेवौषधीनि वा।
इमानि नीता शान्तिं च बुभुक्षा मुनिभिः समैः॥ १४॥
वपुः शैथिल्यमेवं सा चित्तचञ्चलताऽपि च।
गते दूरं ततः सर्वे ज्ञानचर्चार्थमुद्यताः॥ १५॥

पर्वोत्सवानां लाभस्तु विद्यते हि महानयम्।
एतादृशानामाश्रित्य यत्तु पुण्यफलं भवेत्॥ १६॥
अधुना हृदि सर्वेषां हिमाद्रेर्देवतात्मनः।
उत्तराखंड-भागस्य ज्ञाताज्ञातानि तानि तु॥ १७॥
क्रमबद्धतया ज्ञातुं रहस्यान्युत्थिता नवा।
उत्कंठोत्तराखंडभूमिः पुण्यप्रदा श्रुता ॥ १८॥

टीका—उस पुण्य पर्व पर एक बार दूर-दूर से मुनि मनस्वी एकत्रित हुए। गंगा-अवतरण के पुण्य स्थान गंगात्तरी गोमुख के निकट डेरा डाला। पर्वकाल में सभी ने स्नान, ध्यान, जप, तर्पण आदि शरीर, मन व बुद्धि को संस्कारयुक्त बनाने वाले धर्मकृत्य किए। तत्पश्चात एकदूसरे से प्रेमपूर्वक मिले। जो पहली बार नए सम्मिलित हुए थे, उनका परिचय प्राप्त किया। वनवासियों द्वारा इस पर्व पर आने वाले धर्मात्माओं के लिए पहले से ही कंदमूल, फल एकत्रित कर रखे थे। आरोग्यदायी ओषध स्वरूप इन्हें प्राप्त करके आगंतुकों ने भूख बुझाई, जिससे शरीर की थकान व मन की चंचलता जाती रही। सभी मिल-जुलकर ज्ञानचर्चा की तैयारी में लग गए। ऐसे पर्व समारोह का यही सबसे बड़ा लाभ है। पुण्यफल की उपलब्धि इसी आधार पर होती है। इस बार सभी के मन में देवात्मा हिमालय में उत्तराखंड क्षेत्र के ज्ञात-अज्ञात रहस्यों को क्रमबद्ध रूप से जानने की उत्कंठा उठ रही थी। चूँकि उत्तराखंड की देवभूमि पुण्यदायी है, ऐसा सभी ने सुन रखा था॥ ९-१८॥

उत्तराखंडयात्रास्तु कृता एभिरनेकशः।
स्थानानि तस्य दृष्टानि दर्शनीयानि यानि तु॥ १९॥

यथैतिहासिकान्यत्र सन्ति चान्यानि तानि च।
देवालया गुहा नद्यो निर्झरा शिखर अपि॥ २०॥
दृश्यदर्शनमात्रस्य कौतुकस्य हि केवलम्।
समाधानमनेनात्र जातमेव हि केवलम् ॥ २१॥
रहस्यमस्य न ज्ञातं तत्तुकैश्चिद् यदुच्यते।
देवात्मेति जनैः शून्यं स्थानं पाषाणशोभितम् ॥ २२॥
चत्वारि तानि धामानि देशकोणगतानि तु।
समुल्लसन्ति भव्यानि दूरदेशस्य तानि च ॥ २३॥
उत्तराखंड-भूमौ तु बदरीवन-शोभिते।
सन्ति चत्वारि धामानि समीपे संस्थितान्यहो॥ २४॥
तेषां दर्शनजं पुण्यमवगाहसमुद्भवम्।
अन्यतीर्थ-तुलायां तु मन्यतेऽधिकमुत्तमैः ॥ २५॥
ऋषयो मुनयश्चात्र धावं धावं पुनः पुनः।
समायान्ति तपस्तप्तुं तपः सिद्धा भवन्ति च॥ २६॥
सिद्धिरुच्चगताश्चात्राऽपेक्षया प्राप्नुवन्त्यपि।
वैशिष्ट्यं हेतुमेतं च पर्वस्था ज्ञातुमुत्सुकाः॥ २७॥

टीका—उत्तराखंड की यात्राएँ तो इन सभी ने कई बार की थी और उनके दर्शनीय ऐतिहासिक स्थानों, देवालयों, शिखरों, गुफाओं, नदी-निर्झरों को भी देखा था, किंतु इतने से दृश्य-कुतूहल का समाधान मात्र हो सका था, वह विवरण और रहस्य अभी तक विदित न हो सका, जिसके कारण इन जनशून्य पाषाण समुच्चय को देवात्मा कहलाने का श्रेय मिला। चार धाम देश के चारों कोनों पर भव्य बने हैं और एकदूसरे से बहुत दूरी पर अवसित हैं, पर बदरीवन से सुशोभित इस

उत्तराखंड क्षेत्र में छोटे-छोटे स्थान में निकट रहने पर भी चार धाम कहलाते हैं। उनके दर्शन-अवगाहन का पुण्य अन्य तीर्थों की तुलना में अत्यधिक माना गया है। ऋषि-मुनि इसी क्षेत्र में तप-साधना करने के लिए दौड़ते हैं, उच्चस्तरीय तपश्चर्याएँ करते हैं और अपेक्षाकृत अधिक ऊँची सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं और अपेक्षाकृत अधिक ऊँची सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। इन विशेषताओं का कारण क्या है, यह जानने की इस महापर्व पर एकत्रित सभी को अनायास ही तीव्र इच्छा उठ खड़ी हुई॥ १९-२७॥

एकत्रिते समाजे च वरिष्ठोऽभूत्तु नारदः ।
मनुष्यैरिव देवैश्च संबंधास्तस्य सुप्रियाः॥ २८॥
आयुष्यानुभवाभ्यां च श्रेष्ठः स लोक-सम्मतः।
समन्वितेच्छया तस्य समुदायस्य तत्र च॥ २९॥
मुनिरुत्तुंग आहैनं बद्धहस्तो मुनिं कथम्।
ऋषिभूमिस्तपोभूमिः सिद्धा पुण्या च भूरियम्॥ ३०॥
भूमिः समाना सर्वत्र तरवश्च जलाशयाः।
सन्ति सर्वत्र तुल्याश्च ते वनस्पतयोऽपि तु॥ ३१॥
उत्तराखंड-भूमेस्तद् हिमाद्रेर्बोधितं कथम् ।
माहात्म्यमुत्तमं श्रेयः कारकं स्वर्गदं नृणाम्॥ ३२॥
रहस्यं ज्ञातुमेतच्च भृशमुत्कंठिता वयम्।
अनुकम्प्याः समाधानकृपया भवता मुने ॥ ३३॥

टीका—इस एकत्रित समुदाय में सबसे वरिष्ठ नारद मुनि थे। मनुष्यों की तरह देवताओं के भी उनके निकटवर्ती संबंध थे। आयुष्य और अनुभव की दृष्टि से वही ज्येष्ठ थे। अस्तु, समुदाय की समन्वित इच्छा से अवगत मुनि उत्तुंग ने करबद्ध होकर देवर्षि से निवेदन

किया कि इस क्षेत्र को ऋषिभूमि, तपोभूमि, सिद्धभूमि, पुण्यभूमि कहे जाने का रहस्य समझाएँ, भूमि तो सर्वत्र एक ही है। जलाशय और वृक्ष, वनस्पति भी न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र पाए जाते हैं, फिर क्या कारण है कि हिमालय के उत्तराखंड को ही इतना श्रेय मिला और उसे स्वर्गोपम माना गया? इस रहस्य को जानने के लिए हम सब अतीव इच्छुक हैं, सो मुनिवर! कृपाकर समाधान करने का अनुग्रह करें॥ २८-३३ ॥

तथ्यमूलं गतां तेषां संगतानां मनीषिणाम्।
वीक्ष्यसूक्ष्मां मतिं मोदमगाद् देवर्षिराशु सः॥ ३४॥
उवाचाऽपि मया सार्धं भवन्तः प्रचलन्तु च।
यद्यपि सर्वमेतच्च क्षेत्रं दिव्याभिरेव तु ॥ ३५॥
क्षमताभिः सदापूर्णं स्वर्गलोकसमं मतम्।
परं तत्राऽपि सन्त्येव स्थानान्यत्र तु कानिचित्॥ ३६ ॥
कृतान्युच्चात्मभिर्यत्र लोककल्याणकाम्यया।
दिव्यानुभूति-संपन्नान्यनुसन्धानकान्यलम् ॥ ३७॥
प्रयासैस्तैः समस्तश्च समाजो लाभमाप सः।
धन्या जाता महर्षीणां दिव्येयं च परंपरा॥ ३८॥
स्थानेषु तेषु चाद्यापि तरंगाः प्रेरणामयाः।
शब्दनित्यतया सन्ति विद्यमाना हि निश्चितम्॥ ३९॥
तान् ग्रहीतुं क्षमा ये च ते तु तैः साधयन्त्यपि।
संपर्कं लाभमायान्ति तत्र ताभिर्विभूतिभिः ॥ ४०॥

टीका—देवर्षि उपस्थित मनीषियों के तथ्यों की गहराई तक पहुँचने वाली सूक्ष्मबुद्धि का परिचय प्राप्त कर बड़े प्रसन्न हुए और कहा, आप लोग मेरे साथ-साथ चलें। यों यह समूचा क्षेत्र ही स्वर्गलोक

के समान दिव्य क्षमताओं से भरा-पूरा है, किंतु इसमें भी कुछ ऐसे स्थान हैं, जहाँ प्राचीनकाल में उच्चस्तरीय आत्माओं ने लोक-मंगल के लिए अति महत्त्वपूर्ण अनुभव-अनुसंधान किए हैं। उन प्रयासों से समस्त मानव समाज लाभान्वित हुआ। साथ ही ऋषिपरंपरा भी धन्य हुई। उन स्थानों में अभी वे वे प्रेरणा-तरंगें शब्द की नित्यता के कारण विद्यमान हैं, जिनमें उन्हें पकड़ सकने की क्षमता है, वे अभी भी उसके साथ संपर्क साधते और विद्यमान विभूतियों से लाभान्वित होते हैं॥ ३४-४०॥

नारद उवाच—

स्रष्टा सृष्टिविधौ पृथ्वीं रचयामास यर्हि सः।
तर्हि पूर्वसमुत्पन्नो हिमाद्रेर्भाग उत्तमः॥ ४१॥
यः स एव च लोकेऽस्मिन्नुत्तराखंड नामतः।
प्रथित आदिदेशात्र देवान् वासाय सृष्टिकृत्॥ ४२॥
देववासात्स्मृतः स्वर्गो देवलोकोऽपि वा पुनः।
आद्यशक्तिं स आराध्य गायत्रीं शक्तिमाप च॥ ४३॥
उपार्जनं तदाश्रित्य सृष्टिं कर्तुमभूत्क्षमः।
सह तेन विधेयोऽभूत्सहयोगश्च दैवतः॥ ४४॥
सृजनस्याथ पुष्टेश्च परिवर्तनकस्य च।
दायित्वं त्रिविधं प्राप्तं गायत्री संश्रयात्सुरैः॥ ४५॥
उपासनाविधौ तेऽत आदिष्टा ब्रह्मणा स्वयम्।
युक्तास्ते तत आदेशं पूर्णं कर्तुं च सत्वरम्॥ ४६॥
ब्रह्मवर्चोमयं रूपं दर्शयामास सा निजम्।
वेदमाता देवमाता विश्वमातेति यज्जगुः॥ ४७॥

टीका—नारद जी ने कहा—ब्रह्माजी ने सृष्टि की रचना करते हुए जब पृथ्वी बनाई, तब सर्वप्रथम हिमालय का वह भाग विनिर्मित हुआ, जिसे हिमालय का उत्तराखंड कहते हैं। सृजे हुए देवताओं को उस पर निवास करने के लिए सृष्टिकर्त्ता द्वारा कहा गया। उस क्षेत्र का नाम देवलोक एवं स्वर्ग रखा गया। ब्रह्माजी को सृष्टि सृजन की क्षमता आद्यशक्ति गायत्री की उपासना करने से प्राप्त हुई थी। उसी उपार्जन के आधार पर वे सृष्टि बना सकने में समर्थ हो रहे हैं। देवताओं को उनके कार्य में हाथ बँटाना था। सृजन, पोषण और परिवर्तन के त्रिविध उत्तरदायित्वों को वहन करने की सामर्थ्य देवताओं को भी महाप्रज्ञा गायत्री का आश्रय लेने से ही मिल सकती थी। अस्तु, उन सभी को उपासना यज्ञ में लगा दिया गया। देवगण उस निर्देशन को पूरा करने में जुट गए। उन्हें भगवती ने वेदमाता, विश्वमाता के रूप में ब्रह्मवर्चस से युक्त दर्शन दिया॥ ४१-४७॥

देवानां च तपश्चर्या-कारणाद् गरिमाऽस्य तु।
स्वर्गलोकोक्तिरूपेण गदिता चैतिहासिकैः ॥४८॥
क्षेत्रेऽस्मिंस्ते स्थिताः सर्वे शिखराः पावनाः शुभाः।
सुमेरुः शिवलिंगश्च कैलासः स्वर्गगोऽथ च॥४९॥
सुरोद्यानानि तान्यत्र नंदनादीनि संति च।
तपोवनादिसंज्ञानि पुष्पोद्यानानि वै क्रमात्॥५०॥
पुण्यतोया वहन्तीह देवनद्योऽति निर्मलाः।
शरीराणि तु देवानां स्थूल-सूक्ष्माण्यलं स्वतः॥५१॥
समर्थानि बभूवुस्तच्चेतना क्षेत्र-संभवाः।
विभूतीः सूक्ष्मतन्वा ते स्थूलया भौतिकीस्तथा॥५२॥

तन्वा जगृहुरन्तेऽस्य मनुजाः सृष्टिमागताः ।
ऋषिरूपे च सृष्टिः सा मुनिरूपे तथोदिता॥५३॥
वैज्ञानिका अभूवंस्त ऋषयो मुनयस्तु ते।
निर्धारका अभूवंश्च शांता दान्ताः प्रचारकाः॥५४॥
एभ्यो निवासभूमिश्च निश्चिताधस्ततः शुभे।
अगम्ये प्रोन्नते क्षेत्र उत्तराखंड संज्ञके ॥५५॥

टीका—देवताओं की तपश्चर्या से इस क्षेत्र की गरिमा स्वर्गलोक कहकर बखानी गई। उसी क्षेत्र में सुमेरु, शिवलिंग, कैलास, स्वर्गारोहण आदि शिखर शोभायमान हैं। यही तपोवन, नंदनवन जैसे पुष्पोद्यान हैं। पुण्य सलिला स्वच्छ देव सरिताएँ उसी क्षेत्र से निस्सृत होती हैं। देवताओं के सूक्ष्म और स्थूल दोनों शरीर सक्षम थे, वे चेतना-क्षेत्र की विभूतियाँ सूक्ष्मशरीर से और भौतिक उपलब्धियों के लिए स्थूलशरीर का उपयोग करते रहे। इसके उपरांत मनुष्यों को सृजा गया। उनकी प्रथम संरचना पवित्र ऋषि-मुनियों के रूप में हुई। ऋषि वैज्ञानिक थे और शांत-दांत मुनि निर्धारक प्रचारक। इस समुदाय को स्वर्ग वाले उच्च अगम्य क्षेत्र से नीचे वाले भाग में बसाया गया। उसी को उत्तराखंड कहते हैं॥ ४८-५५॥

देवता अंतरिक्षे च पदार्थव्याप्तिभागतः।
साधनानि निजान्यत्र समाचिन्वन्ति ते त्वलम्॥५६॥
महर्षि वर्गस्य कायस्तु स्थूलेन्द्रिय युतो ह्यभूत्।
जलान्नवायुवस्त्रादि-निवासेन्धनरूपतः ॥५७॥
साधनान्यनिवार्याणि जातान्येषां कृते त्विह।
तन्निवासस्थले स्रष्टा समुत्पन्नं व्यधादिदम्॥५८॥

निवसंतु सुखेनैते सृष्टेरस्या व्यवस्थितौ।
यदपेक्ष्यं प्रयासं ते तत्प्रकुर्वन्तु सत्वरम् ॥५९॥
व्यवस्थायै च सृष्टेस्तदृषीणां बह्वपेक्षितम्।
अर्जनस्याभिवृद्धेश्च ग्राह्यं दायित्वमुत्तमम्॥६०॥
नियन्त्रणस्य चाप्यत्रापेक्ष्या शक्तिरतो बहु।
लग्ना उपार्जने योग-तपोभ्यां ते निरंतरम्॥६१॥
योगेनात्रात्मविज्ञानं तपसा च पदार्थगम्।
विज्ञानं सूत्ररूपेण जातं हस्तगतं ततः॥६२॥
ऋद्धीनामथ सिद्धीनां विपुलो निधिरुत्तमः।
उपलब्धस्तदाश्रित्य जगतां भूतये भृशम् ॥६३॥

टीका—देवता अंतरिक्ष में संव्याप्त दिव्य पदार्थ संपदा से अपने निर्वाह साधन आकर्षित कर लेते थे, पर ऋषि वर्ग की काया स्थूल स्तर की इंद्रिय प्रधान थी। उसे अन्न, जल, वायु, वस्त्र, निवास, ईंधन उपकरण आदि की आवश्यकता थी। अस्तु, उनके निवास क्षेत्र में स्रष्टा ने इन सभी साधनों को उपजाया, ताकि वे सुखपूर्वक रह सकें और सृष्टि व्यवस्था के लिए जो जुटाना आवश्यक था, उसके लिए तत्परतापूर्वक प्रयास करते रह सकें। ऋषियों को सृष्टि व्यवस्था के लिए बहुत कुछ करना था। उपार्जन, अभिवर्द्धन और नियंत्रण के अनेकानेक उत्तरदायित्व उन्हें सँभालने थे। इसके लिए सामर्थ्य की आवश्यकता थी, सो उसे योग और तप के माध्यम से अर्जित करने वे लोग जुट गए। योग से आत्म विज्ञान और तप से पदार्थ विज्ञान के सूत्र हस्तगत हुए। उनके सहारे ऋद्धियों और सिद्धियों का विपुल भंडार विश्वकल्याण के लिए उपलब्ध कर सके॥ ५६-६३॥

बहूँल्लोकान् ससर्जायं नक्षत्राणि ग्रहानपि।
ब्रह्मा तु दृश्यरूपेण पदार्था एव तानि तु॥६४॥

परमंतस्तु सर्वेषां चेतना सुनियोजिता।
जडचेतनयोगाच्च सृष्टिरेषा विनिर्मिता॥ ६५॥
देवकर्त्तव्यमासीच्च ब्रह्मांडं सचराचरम्।
एकसूत्रगतं कर्तुं दानादाने नियोजिते॥ ६६॥
पृथिव्या सह योक्तुं च ब्रह्मांडस्य निरन्तरम्।
अशरीरगताप्याप्ता सुविधा च शरीरगा॥ ६७॥
ग्रहपिंडैरिवैते च योग्यैरिह नरैः सह।
कृत्वा संपर्कमेतैश्च कुर्वते लाभगानपि॥ ६८॥

टीका—ब्रह्माजी ने अनेक लोक-लोकांतरों का सृजन किया अगणित ग्रह-नक्षत्र बनाए, वे दृश्य रूप में पदार्थ थे, पर उनके अंतराल में विचारवान चेतना का समावेश किया गया। इस प्रकार सृष्टि जड़-चेतन के समन्वय से बनी। देवताओं का कार्यक्षेत्र उस समस्त चराचर ब्रह्मांड को एकसूत्र में बाँधे रहना था। साथ ही यह भी कि वे पृथ्वी के साथ ब्रह्मांड का आदान-प्रदान का क्रम सुनियोजित रखे रहें, उन्हें शरीर और अशरीरी स्तर की दोनों ही सुविधाएँ प्राप्त हुईं। वे ग्रह-पिंड की तरह मनुष्यों के साथ भी संपर्क साधते और जो उपयुक्त होते, उन्हें पात्रता के अनुरूप लाभान्वित करते रहते हैं॥ ६४-६८॥

निश्चितं तत्रकर्त्तव्यमृषीणां देवसंगतिः ।
तदाप्तैरनुदानैश्च धरित्री वैभवं तथा ॥ ६९॥
मानवानां च तद्वर्चो वर्द्धितुं तु निरंतरम्।
स्वतस्ते पूर्णरूपेण चात्मारामास्तु निःस्पृहा ॥ ७०॥
अंतराले जगत्यास्तु सन्त्यसंख्या विभूतयः।
प्रच्छन्नाभ्यश्च गृह्णन्ति जीवा अन्विष्य ताः स्वयम्॥ ७१॥

अज्ञातानां रहस्यानां मार्गणे प्राप्तिकर्मणि।
समर्था ऋषयः सर्वे स्तरस्तेषां स ईदृशः॥७२॥
स्वस्या विशिष्टतायाश्च कारणात्ते क्षमाः समे।
प्रकटीकर्तुमत्यर्थं सुगुप्तमपि चाञ्जसा ॥७३॥
अदृश्यं प्रष्टुमेते च समर्थाः प्राप्तुमप्यथ।
अप्राप्यमस्ति सामर्थ्यं तपः प्राप्तं महत्तमम्॥७४॥
तपः शक्त्या पदार्थेषु जायते परिपक्वता।
प्रखरत्वमिहात्यर्थं वर्द्धतेऽपि तथैव च ॥७५॥

टीका—ऋषियों का कार्य देवताओं के साथ संपर्क साधने और उनके अनुदानों से धरती के वैभव और मनुष्यों के वर्चस्व में अभिवृद्धि करने का नियत हुआ। वे स्वयं में पूर्णरूपेण आप्तकाम व निस्स्पृह थे। प्रकृति के अंतराल में अगणित विभूतियाँ हैं, वे सभी प्रकट नहीं हैं। आवश्यकता के अनुरूप प्राणी उसमें से खोजते और प्राप्त करते रहते हैं, जो अविज्ञात और रहस्यमय है, उसे खोजने और प्राप्त करने की सामर्थ्य ऋषि स्तर के लोगों में होती है। वे अपनी विशिष्टता के कारण अप्रकट को प्रकट कर सकते हैं। अदृश्य को देख सकते हैं। अप्राप्त को पा सकते हैं। यह विशेषता उन्हें तप बल से प्राप्त होती है। तपाने से हर वस्तु में परिपक्वता आती और प्रखरता बढ़ती है॥ ६९-७५॥

अस्ति प्रयोगशालैव मानवस्य वपुः समम्।
तस्मिन् सृष्टिरहस्यानां भूतेः प्राप्तिकराण्यपि ॥७६॥
उपकरणान्यलं लग्नान्याश्चर्यजनकानि तु।
सामान्यास्तु जनाः लोकयात्रैक-रुचिकाः समे॥७७॥

उपलब्धस्य एतेषां सीमितास्तु तथैव ताः।
परं दृष्टिर्विशालास्ति लक्ष्यं च महदुत्तमम्॥ ७८॥
कार्यक्षेत्रमतिव्याप्तं येषां ते विश्ववैभवम्।
कुर्वते हस्तगं स्वेन मनोयोगेन नित्यशः॥ ७९॥
भौतकाध्यात्मिक-क्षेत्रविज्ञान-ज्ञानिनां सदा।
भवत्यायोजितं चास्यां दिशायां पौरुषं भृशम्॥ ८०॥
स्थिरलक्ष्यानुरूपाणि साफल्यानि सदैव ते।
नराश्चर्यकराण्यत्र प्राप्नुवन्ति पदे पदे॥ ८१॥

टीका—मानव शरीर एक समग्र प्रयोगशाला है। उसमें इस सृष्टि के सभी रहस्यों को समझने और समस्त वैभवों को उपलब्ध करने के विस्मयकारी उपकरण लगे हैं। सामान्य जन-निर्वाह भर में रुचि लेते हैं। इसलिए उनकी उपलब्धियाँ भी उतनी ही सीमित रहती हैं, किंतु जिनकी दृष्टि व्यापक है, लक्ष्य महान व उत्तम है और कार्यक्षेत्र व्यापक है। ऐसे महान मानव इसी संसार में पग-पग पर विद्यमान विभूति संपदा में से अपने प्रबल मनोयोग द्वारा बहुत कुछ प्राप्तकर लेते हैं। भौतिक और आत्मिक-क्षेत्र के विज्ञानियों का पुरुषार्थ इसी दिशा में नियोजित रहता है और वे निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप पद-पद पर आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त करते हैं॥ ७६-८१॥

विभूतिनिधयो देवाः संति सत्पात्रमार्गणे।
लग्ना भवन्ति प्राप्यैतान् कृतार्थान् कुर्वतेऽपि च॥ ८२॥
पात्रतावर्द्धनं चात्र देवाराधनमुच्यते।
एतदर्थमिहोक्तास्तु सन्ध्यायज्ञजपादयः॥ ८३॥
लभन्तेऽलभ्यमप्येवमृषयः प्रापयन्ति तत्।
यत्र यत्रास्ति चास्येहानिवार्यत्वं प्रयत्नतः॥ ८४॥

सामान्यास्तु जना लोभमोहयोर्बन्धनैरथ ।
अहंकारस्य तस्यापि बद्धास्ते त्रिविधैरपि ॥ ८५ ॥
पशूनामिव चैतेषां जीवनं पक्षिणामिव।
निद्राहाराविहारादिमात्रमत्राश्रयन्ति च ॥ ८६ ॥
ऋषिकल्पास्तु ये धन्या उच्चात्मानो नरा भुवि।
मान्यता भावनाऽऽकांक्षाभिर्भवन्त्युच्चबुद्धयः ॥ ८७ ॥
चिन्तनेऽथ चरित्रे च व्यवहारे निजे सदा।
आदर्शान् कुर्वते नूनं समाविष्टान्निरन्तरम् ॥ ८८ ॥
जनाः किं कुर्वते नैतज्जातु पश्यंति ते न च।
प्रभाविता भवन्त्येते तेषां गतिविधेरपि ॥ ८९ ॥
परं स्वं गरिमाणं च जानन्तः सञ्चलन्त्यलम्।
तस्मिन् मार्गेऽनुगन्तृणां यतः श्रेयो भवेदलम्॥ ९० ॥
स्तरस्यैतादृशस्यैव व्यक्तित्वस्य तथैव च।
स्वभावस्य विनिर्माणं तपोयोगोद्भवं फलम्॥ ९१ ॥

टीका—देवता विभूतियों के भंडार हैं, वे सत्पात्रों को तलाशते और उन्हें निहाल करते रहते हैं। पात्रता का संवर्द्धन ही देवाराधन है। इसी के लिए संध्या, जप, यज्ञ, दानादि का विधान किया गया है। ऋषि अलभ्य को अर्जित करते हैं और जहाँ उसकी आवश्यकता है, वहाँ स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक पहुँचाते हैं। सामान्य जन जहाँ लोभ, मोह और अहंकार के त्रिविध भवबंधनों से जकड़े रहते और पशु-पिशाचों जैसा आहार-विहार-निद्रा आदि मात्र का जीवनयापन करते हैं, किंतु ऋषिकल्प आत्माएँ अपनी मान्यताओं, भावनाओं, आकांक्षाओं और विचारणाओं को उच्चस्तरीय बना लेते हैं। चिंतन, चरित्र और व्यवहार

में आदर्शों का समावेश करते हैं। लोग क्या करते हैं, इसे नहीं देखते और न उनकी गतिविधियों से प्रभावित होते हैं, वरन अपनी गरिमा को समझते हुए उस मार्ग पर चलते हैं, जिसका अनुगमन करने वाले असंख्यों को श्रेयाधिकारी बनने का सुयोग मिल सके। इस स्तर का व्यक्तित्व और स्वभाव विनिर्मित करना ही योग-साधना एवं तपश्चर्या का उद्देश्य है ॥ ८२-९१ ॥

साफल्यं यावदेवात्र प्राप्नुयादात्मनिर्मितेः।
योऽपि सूक्ष्मे जगत्यस्य प्रवेशः स्यान्न दुर्गमः ॥ ९२ ॥
न च प्राप्तुं विभूतीस्ताः काठिन्यमनुगच्छति।
योगेन मानसं ये तु तपोभिः कायिकं तथा ॥ ९३ ॥
कुर्वते पुरुषार्थं ते सिद्धिऋद्धीर्व्रजन्त्यलम्।
समुद्रतलगन्तारो लभंते मणिमौक्तिान् ॥ ९४ ॥
साधनां प्रवदन्त्येवं पुरुषार्थं महाजनाः।
ऋषयो मुनयः संति साधनारतमानसाः ॥ ९५ ॥
तेषामुपार्जनैर्विश्वं भवेल्लाभान्वितं सदा।
आदर्शचरितानां च देवमानवसन्नृणाम् ॥ ९६ ॥
श्लाघ्यते भुवि सर्वत्र परार्थैकरतिर्नृभिः।
सम्मानमात्मसन्तोषं यान्ति दैवमनुग्रहम् ॥ ९७ ॥

टीका—आत्मनिर्माण की, जो जितनी सफलता प्राप्त कर लेता है, उसके लिए सूक्ष्मजगत में प्रवेश करने और बहुमूल्य विभूतियाँ हस्तगत करने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ती। योग-साधना को मानसिक और तपश्चर्या को शारीरिक पुरुषार्थ करने वाले ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। समुद्र में गहरे गोते लगाने वाले ही

मणिमुक्त प्राप्त करते हैं। इसी स्तर के पुरुषार्थी को ही महापुरुष साधना कहते हैं। ऋषि-मुनि साधनारत रहते हैं। उनके उपार्जन से समस्त संसार लाभान्वित होता है। अस्तु, इन आदर्श चरित्र वाले देवमानवों की परमार्थपरायणता सर्वत्र सराही जाती है, उन्हें आत्मसंतोष, लोक-सम्मान और दैवी अनुग्रह की कमी नहीं रहती॥ ९२-९७॥

यथा नाविकचातुर्य-साहसाभ्यामसंख्यकाः।
नद्याः पारं जना यान्ति तथैषां सर्व एव हि॥ ९८॥
पुरुषार्थो मुनीनां स ऋषीणामपि पूर्णतः।
समस्तं विश्वमेवात्र युज्यते कर्तुमुन्नतम्॥ ९९॥
तेषां सम्पर्कगा मर्त्या भवन्त्यत्रोन्नतास्तथा।
अभियान्ति च सर्वेषु लक्ष्येष्वेते दृढक्रमाः॥ १००॥
कल्पवृक्षेण लोकास्तान् मणिना पारदेन च।
तुलयन्ति जना लोके सर्वदैतादृशान् भृशम्॥ १०१॥
समीपवर्तिनस्ते तु चंदनस्य द्रुमा इव।
गौरवं ददति स्वातौवर्षेवान्योपकारकाः॥ १०२॥

टीका—जिस प्रकार नाविक की प्रवीणता और साहसिकता के सहारे असंख्यों को नदी पार करने का लाभ मिलता है, उसी प्रकार ऋषियों-मुनियों का पुरुषार्थ और परमार्थ समस्त संसार को सुखी-समुन्नत बनाने में प्रयुक्त होता है। उनके संपर्क में आने वाले ऊँचे उठते और क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ते हैं, उन्हें कल्पवृक्ष-पारस की उपमा दी जाती है। चंदनवृक्ष की तरह वे समीपवर्तियों को गौरव प्रदान करते हैं। स्वाति वर्षा की तरह उनका लाभ कितनों को ही मिलता है॥ ९८-१०२॥

नारदः पुनरेवैतान् सम्बोध्याह बलादिव।
उत्तराखंड-भूमेस्तु गौरवं ज्ञातुमुत्सुकाः॥ १०३॥

भवन्तस्तेन शृण्वंतु याऽत्रत्या तु विशेषता।
ऋषिभूमेर्देवभूमेः कारणादस्ति निश्चितम्॥ १०४॥
वैश्वानरे यथा दीप्ते जायते सा पवित्रता।
ऊष्मजोत्पत्तिरप्येवं संपूर्णं क्षेत्रमुत्तमम्॥ १०५॥
इदं गौरवतां यातं वासादुच्चात्मनां नृणाम्।
अतोऽत्रैव तपस्तप्तुमायाता ऋषिपुंगवाः॥ १०६॥
नरनारायणावत्र तपस्तावृषि सत्तमौ।
कुर्वाते च तयोर्योगान्नरो नारायणो भवेत्॥ १०७॥

टीका—नारद जी ने पुनः कहा—हे भद्रजनो! जिस उत्तराखंड की गरिमा आप लोग जानना चाहते हैं, उसमें जो कुछ विशेषता है, वह देवताओं और ऋषियों की क्रीड़ा भूमि रहने के कारण ही उत्पन्न हुई है। अग्नि के प्रज्वलन के वातावरण में जिस प्रकार ऊष्मा व पवित्रता भर जाती है, उसी प्रकार यह समूचा क्षेत्र उच्चस्तरीय आत्माओं की क्रीड़ा भूमि रहने के कारण गौरवशाली बना है, इसीलिए बड़े-बड़े ऋषि यहीं तपस्या करने आए। ऋषि श्रेष्ठ नर-नारायण अनादिकाल से यहाँ तपस्या में रत हैं, उनके संपर्क से नर मात्र नारायण बन जाता है॥ १०३-१०७॥

सायं समय आयात इत्थं चर्चारतेषु तु।
समेष्वेव विरामोऽतः सोऽपेक्ष्यो नितरामिह॥ १०८॥
जिज्ञासा हृदये नृणां सर्वेषामेव साध्यभूत्।
ज्ञातुमत्रत्यभागानां विवृत्तिं च रहो भृशम्॥ १०९॥
अत आ[illegible]मिवारेषु द्रष्टुं दर्शयितुं तथा।
योजना निश्चिताद्यैष प्रसंगोऽगाद् विरामताम्॥ ११०॥

टीका—चर्चा कहते-सुनते सायंकाल हो गया। अस्तु, वार्त्ता को विराम देना आवश्यक था। जिज्ञासा सभी के मन में इस क्षेत्र के अनेक स्थानों का विवरण और रहस्य जानने की थी। सो अगले दिनों उन्हें देखते हुए समझने-समझाने की योजना बनी। आज का प्रसंग यहीं समाप्त हो गया॥ १०८-११०॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देव संस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,

॥ महर्षि नारदप्रतिपादिते 'देवात्मा हिमालयः' इति प्रकरणो नाम

॥ प्रथमोऽध्यायः॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः॥

ऋषि प्रकरण

द्वितीयेऽह्नि प्रभाते च कृतनित्यक्रिया दश।
प्रमुखा ऋषयस्तत्र नेतृत्वे नारदस्य ते॥ १॥
देवतात्मन एतस्य हिमाद्रेर्भाग संस्थितम्।
पश्यन्तः प्रकृतेरम्यं सौन्दर्यं कंदरां ययुः॥ २॥
आत्मविज्ञान-सन्धान-कर्तारो यासु कर्हिचित्।
ऊषुर्यैर्मृग्यते पन्था समृद्धेः प्रगतेर्नृणाम्॥ ३॥

टीका—दूसरे दिन प्रभातकाल नित्य कर्म से निवृत्त होकर दस प्रमुख ऋषि-मनीषियों की मंडली देवर्षि नारद के नेतृत्व में हिमालय के देवात्मा भाग का प्रकृति सौंदर्य का पर्यवेक्षण करते हुए उन कंदराओं की ओर चले, जिनमें कभी आत्म विज्ञान के अनुसंधानकर्त्ता निवास करते थे और वह खोजते थे जिसके ऊपर व्यक्ति और समाज की प्रगति एवं समृद्धि अवलंबित है॥ १-३॥

देवर्षिश्च प्रवासे स ऐतिह्यं तद् विवेचयन्।
चचालाथ महत्त्वं तदुत्तराखण्डजं ह्यभूत्॥ ४॥
निवासेन तु देवानामृषीणां तपसा तथा।
स्वानुकूलं स्थलं श्रेष्ठमिदं तैर्दृष्टमद्भुतम्॥ ५॥
क्षेत्रेऽस्मिन् स्वमभीष्टं ते प्राप्तुं तन्मयतां गताः।
अवात्सुरनयोः कार्यैः कृतकृत्या मनुष्यता॥ ६॥
आध्यात्मिक्यस्तु संप्राप्ता भौतिक्यो या विभूतयः।
क्षेत्रेऽस्मिंस्ता न चेल्लब्धा अभविष्यन् विभूतयः॥ ७॥
नात्यक्ष्यन् दुर्गतिं मर्त्या तत्रस्था स्यान्मनुष्यता।
क्षेत्रेषु च बहुष्वेषा पशुपक्षि-समा भवेत्॥ ८॥

टीका—देवर्षि प्रवास में चर्चा करते हुए कहते चल रहे थे। उत्तराखंड की गरिमा देवताओं के निवास और ऋषियों के तप-साधन से बन पड़ी है। उन्होंने अपने लिए अनुकूलता का यह सर्वश्रेष्ठ स्थान देखा और इसी क्षेत्र में तन्मयता पूर्वक अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति हेतु बस गए। इन दोनों द्वारा जो कार्य बन पड़े उनसे समूची मनुष्य जाति कृतकृत्य बनी। आत्मिकी और भौतिकी की जो विभूतियाँ इस क्षेत्र में खोजी गईं यदि वे न मिलतीं तो मनुष्य दुर्गति से नहीं निकल पाते तथा सारी मनुष्य जाति नितांत गई-गुजरी स्थिति में पड़ी रहती। उसे अनेक क्षेत्रों में पशु-पक्षियों से भी गई-गुजरी स्थिति में पड़ा रहना पड़ता॥ ४-८॥

यात्रायां विविधान् तांश्च प्रसंगास्तु पुरातनान्।
अगाद् विवेचयद् व्यासगुहां पुण्यां तु मंडलम्॥ ९॥
बद्रीधामतश्चेयमग्रे सन्निकटे स्थिता।
वसुधारा प्रपातस्य पीयूषोपमितस्य तु॥ १०॥

अष्टादशपुराणानि कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
रचयामास ज्ञानस्य निधीन् सर्वविधस्य सः॥ ११॥
सहयोगं गणेशस्य कार्येऽस्मिन् प्राप सः मुनिः।
लोककल्याण-लग्नानां नृणां सन्मनसां सुराः॥ १२॥
कुर्वते मुक्तहस्तेन साहाय्यं सर्वदैव ते।
श्रृण्वन्तः प्रार्थनां चैव पूरयन्ति मनोरथान्॥ १३॥
अतः पूर्वं च पश्यन्ति याचते कः कथं तथा।
परीक्षैषा च प्रत्येकक्षेत्रे वैचारिकेऽस्ति च॥ १४॥

टीका—यात्रा में अनेक पुरातन प्रसंगों की चर्चा करते हुए मंडली महर्षि व्यास की गुफा पर पहुँची। यह बदरीनाथ धाम से आगे अमृत तुल्य वसुंधारा जल प्रपात के निकट है। यहाँ निवास करते हुए द्वैपायन ने सब प्रकार के ज्ञानों के भंडार अठारह पुराणों की रचना की थी। इस कार्य में उन्हें गणेश का अनवरत सहयोग मिला था। देवता लोक-मंगल के सत्प्रयोजन में निरत सदाशयता संपन्न लोगों की मुक्त हस्त से सहायता करते हैं। वे प्रार्थना सुनते हैं और कामना की पूर्ति भी करते हैं, पर इससे पूर्व यह भी देखते हैं कि कौन माँगता है? किस प्रयोजन के लिए माँगता है? ऐसी परख हर विचारशील क्षेत्र में होती है॥ ९-१४॥

पुरस्कृतानि जायन्ते सत्पात्राणि न संशयः।
कुर्वते परमार्थस्य त्रिविधायां तु ये नराः॥ १५॥
परीक्षायां निजान् पूर्णान् दृढांस्तत्र प्रमाणितान्।
अलसाः स्वार्थिनो हेयस्तरा लोका यदि स्वयम्॥ १६॥
भिक्षुका इव याचन्ते तस्करा इव वा पुनः।
लिप्सा-पूर्त्यै च देवानामनुकंपा तु केवलम्॥ १७॥

उपहारच्छलेनैते निराशां यान्ति निश्चितम्।
एते पशुसमानां च भजंते वृत्तिमन्ततः ॥ १८ ॥

टीका—सत्पात्र ही पुरस्कृत किए जाते हैं, इसमें संदेह नहीं और परमार्थ की त्रिविधि परीक्षाओं में अपने को खरा प्रमाणित करते हैं। स्वार्थी, आलसी और हेय स्तर के लोग यदि भिक्षुकों या तस्करों की तरह लिप्सापूर्ति के लिए देवताओं की अनुकंपा मात्र मनुहार उपहार के बदले सस्ते मोल में माँगते हैं तो उन्हें निराश ही होना पड़ता है। अंततः पशुओं के समान उदरादि पूर्ति में ही जीवन नष्ट कर देते हैं॥ १५-१८ ॥

उच्चं लक्ष्यं गतो व्यासो यः कथामाध्यमेन च।
जनं साधारणं धर्मं धृतिमादर्श वादिताम् ॥ १९ ॥
गृहीतुं प्रेरयामास यमुद्दिश्य लिलेख सः ।
नाहंकारो निजस्तस्य न लोभः स्वार्थ एव वा ॥ २० ॥
यल्लिलेख महर्षिः स आदर्शान् परिशोधितुम्।
तदभूत्केवलं गूढो विषयो ज्ञान तत्वगः ॥ २१ ॥
तज्ज्ञानं ज्ञापनं चैव विद्वद्वर्गेण संभवम्।
सामान्यांनां कथाशैली नृणांरुचिकरीत्विह ॥ २२ ॥
बाला वृद्धा युवानों वाऽशिक्षिताः शिक्षिता अपि।
कथां शृण्वन्तिजानन्ति स्वीकुर्वन्त्यपि चाञ्जसा॥ २३ ॥

टीका—व्यास का उद्देश्य ऊँचा था। वे कथा-माध्यम से जनसाधारण को धर्मधारणा और आदर्शवादिता अपनाने की प्रेरणा देने का उद्देश्य लेकर लेखन कार्य में निरत हुए थे। उनका निजी स्वार्थ लोभ या अहंकार उसमें तनिक भी नहीं था। जो लिखा केवल आदर्शों के परिशोधन हेतु था। तत्त्वज्ञान का विषय गूढ है। उसे समझना-समझाना विद्वान वर्ग के लिए ही संभव है। सर्वसाधारण को कथा-

शैली रुचिकर लगती है। उसे बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित सभी सरलतापूर्वक समझते और अपनाते हैं॥ १९-२३॥

वर्गमेतं विचार्यैव व्यासो लेखं लिलेख सः।
शिवपुत्रो गणेशश्च दृष्ट्वोद्देश्यस्य पावनीम्॥ २४॥
महत्तामाजगामाशु विशेषमाग्रहं विना।
प्रयोजने महत्यस्मिन् सहयोगसमीहया॥ २५॥
व्यासोऽवदल्लिलेखासौ गणेशोऽनारतं समम्।
महाभारतमित्त्थं तत्पुराणान्यपि चान्ततः॥ २६॥
अल्पेनैव च कालेन गतान्येतानि पूर्णताम्।
आरण्यकेषु तच्छिष्या व्ययुस्तेषां प्रतीरपि॥ २७॥
कृतस्तेषां विस्तरश्च विद्वद्भिर्जगतीतले।
जातो जगद्गुरू र्लोकहितसाधनयाऽनया॥ २८॥
नमन्ति चरणौ व्यासपूर्णिमायां जनास्ततः।
जातेयं विश्रुता लोकेपूर्णिमा गुरुपूर्णिमा॥ २९॥
अविच्छिन्ना विधातव्या सेयं दिव्य परंपरा।
अस्माभिरपि कालेऽस्मिन् भीषणे भ्रांति पूरिते॥ ३०॥

टीका—व्यास ने इसी वर्ग को ध्यान में रखकर लेखनी उठाई। शिवपुत्र गणेश ने उद्देश्य की महानता को देखा और बिना आह्वान निमंत्रण की प्रतीक्षा किए उस महान प्रयोजन में सहायता करने के लिए स्वयं जा पहुँचे। व्यास बोलते और गणेश लिखते गए। इस प्रकार महाभारत आदि अठारह पुराण थोड़े से समय में पूरे हो गए। उनकी प्रतिलिपियाँ अनेक तीर्थ-आरण्यकों में हुईं और उनका विस्तार विद्वज्जनों द्वारा समस्त संसार में हो गया। इसी लोकहित साधना से

यह जगद्गुरु कहलाए तथा व्यास पूर्णिमा के दिन सारा संसार इनके चरणों की वंदना करता है, इनकी यह व्यास पूर्णिमा- गुरुपूर्णिमा बन गई। भ्रांति से भरे-पूरे इस भीषण युग में हमें इस दिव्य परंपरा को अविच्छिन्न बनाए रखना है, ताकि लोक-कल्याण हो सके॥ २४-३० ॥

देवर्षिः श्रावयामास सोऽन्यत्सृष्टं सुविस्तृतम्।
लोकचित्त-परिष्कार-कर्तृसाहित्यमुत्तमम् ॥३१॥
आश्रमेषु च केष्वेताः स्मृतयस्तु विनिर्मिताः।
ऋषिभिः कैः कदेत्येवमैतिह्यं विस्तराज्जगौ॥३२॥
परिवर्तनमायाते काले कालानुसारतः ।
नूतनान्यपि शास्त्राणि निर्मेयानि बुधैः सदा॥३३॥
विपरीतासु सदा मान्याः! स्थितिष्वत्र तु कानिचित्।
प्रतिपादनकान्येव गच्छन्त्यनुपयोगिताम् ॥३४॥
तत्स्थाने च नवीनं हि संस्कृतं परिवर्तनम्।
अपेक्ष्यते नवाश्चातो धर्मग्रंथा विनिर्मिताः॥३५॥
चतुर्विंशतिसंख्यानां स्मृतीनां नारदो मुनिः।
नामान्यजीगणद् भिन्न-समये लिखितास्तु याः॥३६॥

टीका—देवर्षि ने लोक-मानस के परिष्कार में निरत अन्यान्य ऋषियों के उत्तम साहित्य सृजन का विवरण सुनाया। स्मृतियाँ किन आश्रमों में किन ऋषियों द्वारा विनिर्मित हुईं, इसका इतिहास उन्होंने विस्तारपूर्वक रास्ता चलते-चलते सुनाया। समय बदल जाने पर नए समय की आवश्यकता के अनुरूप नए शास्त्रों का सृजन विद्वानों को करना पड़ता है। हे मान्य मनीषियो! कुछ पुराने प्रतिपादन परिस्थिति बदल जाने पर अनुपयोगी हो जाते हैं। तब उनके स्थान पर नए सुधार

परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है। नए धर्मग्रंथों के निर्माण का यही उद्देश्य रहा है। नारद जी ने चौबीस प्रमुख स्मृतियों के नाम गिनाए, जो भिन्न-भिन्न समय में लिखी गई थीं॥ ३१-३६ ॥

शास्त्रनिर्माण कतणां साधनां लेखनस्य तु।
योगाभ्यास तपोऽभ्यास-प्रकारां घोषयन्मुनिः॥ ३७॥
स्थानान्येषां च नामानि ययावग्रे विबोधयन्।
वक्तव्यं स्वं यथापूर्वं कृत्वाऽऽरब्धमुवाच च॥ ३८॥
निर्धारणानि गंभीरविचारानुसृतानि च।
विज्ञानाविष्कृतिर्नूनमेकान्तोत्पाद्यतां गता ॥ ३९॥
वातावृतौ सुयोग्यायां कार्याण्येवं विधानि तु।
संभवन्ति मनोबुद्धियोग-योग्यानि वै यतः॥ ४०॥
साहित्य सृजने तूच्चे स्रष्टुः स्वीया परिस्थितिः।
विचारपद्धतिः शान्ता स्युः सा दैनन्दिनी तथा॥ ४१॥

टीका—शास्त्रकारों की लेखन-साधना को योगाभ्यास और तप-साधना का ही एक प्रकार ठहराते हुए सृजनकर्त्ताओं के नामों और स्थानों का दर्शन कराते हुए देवर्षि जिज्ञासु मंडली समेत आगे बढ़ते गए। अपने वक्तव्य को जारी रखते हुए उन्होंने कहा—गंभीर विचार-निर्धारण भी वैज्ञानिक आविष्कारों जैसे ही एकांत में बन पड़ने वाला उपयुक्त वातावरण में मन व बुद्धि की एकाग्रता से संभव हो सकने वाला कार्य है। उच्चस्तरीय साहित्य सृजन में सृजेता की जीवनचर्या, विचारपद्धति एवं परिस्थिति सात्त्विकता से भरीपूरी होनी चाहिए॥ ३७-४१ ॥

निर्धारकास्तु ये देवसंस्कृतेस्तेऽस्य पूर्तये।
उद्देश्यस्य सतः सृष्टिं साहित्यस्य तु मेनिरे॥ ४२॥

आत्मालोकोभयोर्भव्यं पुण्यं कार्यं समन्वितम्।
शक्तिरात्मरुचिर्येषां योग्याऽभूज्जीवने स्वके॥ ४३॥
तत्र तन्मयता पूर्वं जाता लग्ना निरन्तरम्।
परमार्थप्रयासं ते प्रभुशक्तिं च मेनिरे॥ ४४॥
पूजा भगवतः सत्या क्रियते कर्मभिः शुभैः।
पूजाया उपहारस्य वाञ्छा नैवेश्वरस्य तु॥ ४५॥

टीका—देव संस्कृति के निर्धारकों ने उस ऊँचे उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्साहित्य सृजन को आत्मकल्याण और लोक-मंगल का समन्वित पुण्यकार्य माना और जिन्हें उसके उपयुक्त अपनी क्षमता एवं आत्मरुचि प्रतीत हुई उसमें वे तन्मयता पूर्वक आजीवन लगे रहे। यह परमार्थ प्रयास ही उनके लिए ईश्वरभक्ति थी। भगवान की सच्ची पूजा सत्कर्मों से ही की जाती है। उन्हें मनुहार उपहार की न इच्छा रहती है, न आवश्यकता। ऋषियों में से जो साहित्य-सृजेता थे उन्हें वह समग्र श्रेय प्राप्त हुआ जो भगवद्‌भजन से प्राप्त होता है॥ ४२-४५॥

ऋषीणां ये च साहित्य-स्रष्टारः श्रेय उत्तमम्।
समग्रं लब्धमेतैस्तद् भक्त्या यत्प्राप्यते नरैः॥ ४६॥
अद्य प्रवासे तेषां स परिव्राजां मनीषिणाम्।
निवासान् दर्शयामास येषु चात्मपरिष्कृतेः॥ ४७॥
हेतोस्तपोऽभिवृद्धेस्ते न्यवात्सुरिह सन्ततम्।
मनः स्थितौ सुपक्वायां तीर्थयात्रां च कुर्वते॥ ४८॥
पदयात्रा तु धर्मार्थं तीर्थयात्रा निगद्यते।
अतो मार्गेऽभियाता ये तेषां चित्तस्थितेस्तथा॥ ४९॥

परिस्थितेः स्वरूपेण सर्वानुपदिशन्त्यपि।
रात्रौ तिष्ठन्ति यत्रैव कथाकीर्तनमप्यलम्॥ ५० ॥
तत्र ते कुर्वते धर्म चेतनाया नवांकुरान्।
वपन्त्येव च सिञ्चान्ति परिपक्वांश्च कुर्वते॥ ५१ ॥

टीका—आज के प्रवास में नारद ने उन परिव्राजक मनीषियों के स्थान दिखाए जिनमें आत्मशोधन और तपोबल संवर्द्धन के निमित्त हिमाचल-क्षेत्र में निवास करते थे और फिर अपनी मन:स्थिति परिपक्व होते ही तीर्थयात्रा पर निकल पड़ते थे। धर्मप्रचार की पदयात्रा ही तीर्थयात्रा है। मार्ग में जो मिले उन्हें उनकी मन:स्थिति एवं परिस्थिति के अनुरूप परामर्श देते चलते थे। रात्रि को जहाँ ठहरते थे, वहाँ कथा-कीर्तन के माध्यम से धर्मचेतना का बीजांकुर बोते-उगाते, सींचते एवं परिपक्व करते थे॥ ४६-५१ ॥

गृहेस्थिता जना देवमानवानां यदृच्छया।
आगतानां लभन्ते चेत्सत्संगं मार्गदर्शनम् ॥ ५२ ॥
उज्ज्वलोत्तरमेतत्तु वरदानायितं नृणाम्।
भवन्ति स्म च तीर्थेषु पर्वगायोजनान्यपि ॥ ५३ ॥
संगता ऋषयस्तत्र कालिकीस्ताः परिस्थितीः।
विचार्योपायमप्यासां निर्दिशन्ति सदैव च ॥ ५४ ॥
आयोजनेषु तेष्वेते धर्मात्मानो जनाः समे।
सम्मिलन्ति विशालायां संख्यायामुत्सुका भृशम्॥ ५५ ॥
क्षेत्रेषु च निजेष्वेते मुनिनिर्धारणानि तु।
क्रियान्वितानि कर्तुं चायान्ति दायित्वसंयुताः ॥ ५६ ॥
कुंभादीनां तु जागृत्यै क्षेत्रजानामथापि च।
स्थानजानामुत्सवानामुपयोगित्वमस्ति तत् ॥ ५७ ॥

ऋषयः कुर्वते तेषां सूत्रसञ्चालनं सदा ।
चातुर्मासे व्यधुर्मुख्यं सत्संगोपक्रमं स्वकम् ॥ ५८ ॥
दूरस्था अपि चागत्य जनास्तिष्ठन्ति तत्र च।
विकसितं जीवनं कर्तुं समाजोन्नतिकारिकाम् ॥ ५९ ॥
महत्त्वसहितां सर्वे व्यवस्थां प्राप्नुवन्त्यपि ।
तेन सन्तुलनं तत्र समाजे तिष्ठति स्वयम् ॥ ६० ॥

टीका—घर बैठे देवमानवों का सत्संग मिलना और उनके परामर्श से उज्ज्वल भविष्य का मार्गदर्शन प्राप्त होना वरदान प्राप्त होना जैसा है। तीर्थों में समय-समय पर पर्व-आयोजनों की व्यवस्था बनती थी। ऋषिगण उनमें एकत्रित होकर सामयिक परिस्थितियों के संबंध में विचार विनिमय करते और उपाय निकालते थे। उन आयोजनों में धर्मप्राण उत्सुक लोग बड़ी संख्या में पहुँचते थे, और अपने-अपने क्षेत्र में ऋषि निर्धारणों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व ओढ़कर वापस लौटते थे। कुंभपर्वों से लेकर क्षेत्रीय-स्थानीय अनेकानेक धार्मिक मेलों का होते रहना जनजाग्रति की दृष्टि से अतीव उपयोगी सिद्ध होता था। ऋषियों द्वारा उनका सूत्र- संचालन होता था। चातुर्मास में वे अपना विशेष सत्संग उपक्रम रखते थे, जिसमें दूर-दूर के लोग आकर वहाँ ठहरते और जीवन को विकसित करने तथा समाज को समुन्नत बनाने वाले महत्त्वपूर्ण परामर्श प्राप्त करते थे। इसी से उस समय समाज में संतुलन बना रहता था॥ ५२-६० ॥

छात्रा अपि प्रयान्त्येवं तीर्थयात्रागतौ सदा।
ऋषिभिः सह दिव्यैस्तैः सदाचारयुतैः सदा॥ ६१ ॥
अधीयानाश्च ते विद्याश्चारयन् गाश्च तत्र तु।
सह पर्यटनेनैव समस्या जीवनोद्भवाः॥ ६२ ॥

सकारणाश्च विज्ञाय विचार्यापि निवारणम्।
स्वकीयं ज्ञानभण्डारं वर्द्धयन्ति निरंतरम्॥ ६३॥
कारणं चेदमेवाभूद् यद् हिमालयवासिनः।
ऋषय आत्मशक्तेस्तु व्यक्तिगाः साधनास्तु ताः॥ ६४॥
संपाद्याविरतं सर्वे प्रवासे निवसन्ति च।
मिथ्याडंबरहीनास्ते पावयन्ति जनं जनम्॥ ६५॥
शिष्या अपि च तैः सार्धं समयेऽस्मिन् सदैव च।
निवसन्तः स्वयं सिद्धाश्चलन्त्यभ्युदयाध्वनि ॥ ६६॥
प्रायो गुरुकुलानां तु चलनं भ्रमतां सदा।
अभूदृषिकुलानां च लोकसंपर्क-कारणात्॥ ६७॥
विद्यालया अतस्तत्र भव्यशालास्तु केचन।
न्यूना एवं बभूवुश्च निर्मितास्ते सुसज्जिताः॥ ६८॥

टीका—उन सदाचारी दिव्य ऋषियों के साथ तीर्थयात्रा पर छात्र मंडली भी चलती थी। विद्यार्थी विद्याध्ययन करते गौएँ चराते एवं पर्यटन के समय जनजीवन की अनेकानेक समस्याओं स्वरूप कारण एवं निवारण समझते हुए ज्ञानभंडार को निरंतर बढ़ाते चलते थे। यही कारण था कि हिमालय वासी ऋषिगण कुछ समय आत्मबल संपादन की व्यक्तिगत साधनाएँ संपन्न करने के उपरांत निरंतर प्रवास में रहते थे। अपनी मिथ्याडंबर हीनता से प्रत्येक व्यक्ति को पवित्र हृदय बना देते थे। इसी बीच उनके शिष्यगण साथ रहते चलते जीवन-साधना द्वारा सर्वतोमुखी अभ्युदय का पथप्रशस्त करते रहते थे। उन दिनों लोक संपर्क की दृष्टि से भ्रमणशील ऋषिकुलों-गुरुकुलों का अधिक प्रचलन था। अतएव भव्य भवनों वाले साज-सज्जायुक्त स्थिर विद्यालय कम ही निर्मित होते थे॥ ६१-६८॥

विद्यते वैभवं सत्यं सज्ज्ञानं मानवस्य तु।
तदाश्रित्य विकासं च व्यक्तित्वं भजते दृढम्॥ ६९ ॥
प्रतिभा पक्वतायां तु विद्यते ज्ञानसंपदः।
इहासाधारणं योगदानं हितकरं नृणाम् ॥ ७० ॥
संसारस्य समस्तस्य मानवानां विशेषतः ।
सेवा सज्ज्ञानवृद्धेः सा जायते तुष्टिदाऽऽत्मने॥ ७१ ॥
दत्वौषधमथेहान्न-वस्त्रादीनि च कस्यचित्।
सेवाकृता भवेन्नैव स्थायिनीति विविच्यताम्॥ ७२ ॥
पुरुषार्थेन निजेनैव तीर्त्वा कष्टानि संभवेत्।
नरः समुन्नतो लोके सुखी चैव निरंतरम्॥ ७३ ॥
सज्ज्ञानं च विना नैव स्वरूपं पुरुषार्थगम्।
विवेको व्यवहारस्य तस्य लोके च संभवेत्॥ ७४॥
कुर्वते ज्ञानदानं ये श्रेष्ठास्ते दानिनो मताः।
अपरिग्रहिणस्तत्त्वदर्शिनः साधवो मताः ॥ ७५ ॥
सञ्चितेन विवेकेन कुबेरादपि वस्तुतः।
नरा आढ्यतरा आढ्यान् कुर्वते दयया नरान्॥ ७६ ॥

टीका—मनुष्य का सच्चा वैभव सद्ज्ञान है। उसी आधार पर प्रखर व्यक्तित्व विकसित होते हैं। प्रतिभा परिपक्व करने में ज्ञानसंपदा का हितकारी असाधारण योगदान रहता है। मानव जाति की, समस्त संसार की सेवा सद्ज्ञान-संवर्द्धन से ही होती है। इसी से आत्मसंतोष भी प्राप्त होता है। अन्न, वस्त्र, ओषध आदि देकर किसी की स्थायी सेवा नहीं हो सकती, यह प्रत्येक को विचारना चाहिए। अपने पुरुषार्थ से ही कठिनाइयों को उबरा और सुखी-समुन्नत बना जाता है। पुरुषार्थ

का ही सही स्वरूप और उसे अपनाए रहने का विवेक-सद्ज्ञान के बिना और किसी प्रकार संभव नहीं। ज्ञानदान करने वालों को सबसे बड़ा दानी माना गया है। इसलिए तत्त्वदर्शी अपरिग्रही संत संचित विवेकशीलता के कारण कुबेर से बढ़कर संपत्ति वाले माने गए हैं। वे जिस पर भी अनुग्रह करते हैं, उसे धनवान बना देते हैं॥ ६९-७६॥

क्षमा बोधयितुं तेऽपि शिष्टाचारं तु लौकिकम्।
सामान्याः शिक्षकाः सर्वे परं स्यात्तु यया ध्रुवम्॥ ७७॥
गुणकर्म स्वभावानां परिष्कारस्तथा भवेत्।
स्फीतं व्यक्तित्वमत्यर्थं मर्त्य-गौरवरूपगम्॥ ७८॥
महत्त्वमुद्भवेत्तां तु प्रेरणामृषयः पराम्।
दातुमत्र समर्थास्तु स्वयं सिद्धास्तपस्विनः॥ ७९॥
अध्यापका अनेकेऽत्र संति नूनं तथापि ये।
प्राणचेतनयात्वन्यान् संपर्के समुपागतान् ॥ ८०॥
कुर्वंते प्रखरं प्राणानीदृशा देव मानवाः।
ऋषितुल्यास्तु लोकेऽस्मिन्न्यूना एव भवंति तु॥ ८१॥
ये भवंति समे ते तु ज्ञानेनैव सह स्वयम्।
उत्कृष्टताऽमृतं सर्वान् पाययन्ति निरंतरम्॥ ८२॥
दृष्टिं स्फीतां च कुर्वन्ति दिशायां जीवनस्य च।
उच्चैस्तरं महामूल्यं कुर्वंते परिवर्तनम् ॥ ८३॥

टीका—लोक-व्यवहार की जानकारी तो सामान्य शिक्षक भी दे सकते हैं, पर जिससे गुण-कर्म-स्वभाव का परिष्कार हो, व्यक्तित्व निखरे एवं मानवी गरिमा के अनुरूप महानता का उद्भव हो ऐसी अंत:प्रेरणा मात्र स्वयं सिद्ध-तपस्वी ऋषि ही दे सकते हैं। अध्यापक

अनेकों होते हैं, पर जो अपनी प्राणचेतना से संपर्क में आने वालों का प्राण उभार सके, ऐसे ऋषिकल्प देवमानव कम ही होते हैं। जो होते हैं, वे ज्ञान के साथ-साथ सदा उत्कृष्टता का अमृत पिलाते हैं, दृष्टिकोण बदलते हैं और जीवन की दिशाधारा में उच्चस्तरीय महान परिवर्तन करते हैं॥ ७७-८३॥

कृत्वा गौरवपूर्णं च व्यक्तित्वं सञ्चितां निजाम्।
भूमिमाश्रित्य तेषां च पौरुषं योजयन्त्यलम्॥ ८४॥
परिष्कारे नृणामन्तः करणस्य सदैव च।
एष एव मतो लोक ऋषिधर्मः सनातनः॥ ८५॥
अस्मै प्रयोजनायैते योजनाः कालिकीः सदा।
स्थिरयन्ति यथायोग्यं चालयन्ति पुरागमान्॥ ८६॥
महत्त्वं नास्ति लोकेऽस्मिन्नुच्चता कारणादथ।
प्रकृतेः संपदाया वा परं वासस्य कारणात्॥ ८७॥
ऋषीणामस्ति तेषां तु यैरुप्ता ज्ञानसंपदा।
कृताऽप्यंकुरिता जाताः स्थितयः सुखदा यथा॥ ८८॥
कृतयुगः स हि नैवान्यत् कर्मणां सत्फलं विना।
मुनिभिर्बोधितस्यास्य सज्ज्ञानस्य तु केवलम्॥ ८९॥
उत्पादनमिदं यत्र क्षेत्रे सञ्जायते सदा।
देवात्मेत्युच्यते क्षेत्रं सार्थकं तत्तु सर्वतः॥ ९०॥

टीका—इसलिए व्यक्तित्व को गौरवशाली बनाने के उपरांत वे इस संचित विभूति के आधार पर अपने उदार पुरुषार्थ का उपयोग जन-जन का आंतरिक परिष्कार करने में लगाते हैं। यही सनातन ऋषि धर्म है। इस प्रयोजन के लिए वे समयानुसार अनेक योजनाएँ

बनाते व कार्यक्रम चलाते रहते हैं। महानता, ऊँचाई एवं प्रकृतिसंपदा के कारण नहीं, निवास करने वाले उन ऋषियों के कारण है; जिनने इस क्षेत्र में ज्ञानसंपदा बोई, उगाई और उससे सर्वत्र प्रगति और संपत्ति भरी, सुखद परिस्थितियाँ बनाईं। पुरातनकाल का सतयुग और कुछ नहीं केवल मुनि-मनीषियों द्वारा उत्पन्न किए और बिखेरे गए सद्ज्ञान का ही प्रतिफल था। यह उत्पादन जिस क्षेत्र में होता रहे उसे देवात्मा कहा जाना हर दृष्टि से सार्थक है॥ ८४-९०॥

सज्ज्ञानविग्रहा देवा ऋषयः स्थापनां व्यधुः।
वातावृतौ शुभायां ते तीर्थानां पुण्यदायिनाम्॥ ९१॥
गतयो विधयस्तत्रारण्यकस्तरगाः सदा।
चलन्ति स्म व्यतीते च जीवनस्यार्धभागके॥ ९२॥
प्रयोजनेषु संसारसंबंधिषु च युञ्जते।
उत्तरार्द्धपरार्थेषु देवसंस्कृतिगा नराः॥ ९३॥
वानप्रस्थस्तरेणैव जीवन्तीह व्यवस्थितिः।
तेषामध्यापनस्या-भूदभ्यासस्यकृते तथा॥ ९४॥
तपसोऽपि तथा तत्र केन्द्रेष्वेव तु सादरम्।
नेशुराधय एतेन व्याधयो भास्वतेव तु॥ ९५॥

टीका—सद्ज्ञान के शरीरधारी देवता ऋषियों ने अनुकूल वातावरण में अनेकानेक पुण्यदायी तीर्थों की स्थापना की। उन सभी में आरण्यक स्तर की गतिविधियाँ चलती थीं। आधा जीवन सांसारिक प्रयोजन में लगाने के उपरांत देव संस्कृति के सच्चे अनुयायी जीवन का उत्तरार्द्ध परमार्थ-प्रयोजन में लगाते थे। वानप्रस्थ स्तर का जीवन जीते थे। उसके लिए आवश्यक अध्यापन, अभ्यास एवं तप-साधन की व्यवस्था उन्हीं धर्मकेंद्रों में ससम्मान रहती थीं। उनके वहाँ निवास

से मानसिक आँधियाँ (कष्ट)उसी प्रकार से नष्ट हो जाती हैं, जैसे तेजस्वी सूर्य के प्रभाव से शारीरिक व्याधियाँ॥ ९१-९५॥

जनाः साधारणा अत्र प्रायश्चित्तं तु पापजम्।
कर्तुमायान्ति स्वं तच्च भविष्यत्कर्तुमुज्ज्वलम्॥ ९६॥
निश्चेतुं च तदर्थं ते नव्यान् गतिविधीन् शुभान्।
व्यपैत्यनेन तेषां स बुद्धेः ज्वर इव समः॥ ९७॥
सावकाशा जनाः स्वस्य साधनायै तु यत्नतः।
जीवनस्य व्रजन्ति स्म नित्यमारण्यकेषु ते॥ ९८॥
व्यवहारे तथा स्वस्य दृष्टिकोणे शुभोदयम्।
उच्चस्तरं समावेशं कृत्वा प्रत्याव्रजन्त्यपि॥ ९९॥
चचालारण्यकेष्वेषा नियता कल्पसाधना।
संस्कारांश्च शिशूनां ते व्रत धारणमुज्ज्वलम्॥ १००॥
वयस्कानां तथा श्राद्ध-तर्पणं स्वर्गगामिनाम्।
पितृणामेषु माहात्म्यमसंख्यं प्रोक्तमन्यतः॥ १०१॥

टीका—साधारण जन यहाँ पापों का प्रायश्चित करने उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए अभिनव गतिविधियाँ निर्धारित करने के निमित्त आते थे। इससे उनकी बुद्धि में समाई कुंठित भावनाएँ दूर हो जाती थीं। अवकाश के समय जीवन-साधना के लिए लोग आरण्यकों में पहुँचते थे और अपना दृष्टिकोण व्यवहार में उच्चस्तरीय समावेश करके वापस लौटते थे। ऐसी कल्प-साधना सभी आरण्यकों में नियमित रूप से चलती थी। बालकों के संस्कार, वयस्कों के व्रत धारण, सब दिवंगतों के श्राद्धतर्पण तीर्थ-आरण्यकों में करने का माहात्म्य साधारण स्थानों की अपेक्षा असंख्य गुना अधिक माना गया है॥ ९६-१०१॥

सजीवानि तु तीर्थानि प्रोच्यन्ते स्म महर्षयः।
तदा तीर्थात्मतां याता मन्यन्तेऽपि सदाश्रयात्॥ १०२॥
वसन्ति यत्र तान्येव यान्ति स्थानानि तीर्थताम्।
तीर्थावगाहि मर्त्यानां जीवनेऽभूत्परिष्कृतिः ॥ १०३॥
ऋषिव्यक्तिगता योगसाधनाऽथापि तत्तपः।
एतदर्थमभूतां ते यान्तु सज्ज्ञान सन्निधिम्॥ १०४॥
भूति संपदया ते च तया कुर्वन्ति संततम्।
व्यवस्थां सकलां जीवकल्याणानुगतां शुभाम्॥ १०५॥

टीका—ऋषियों को सजीव तीर्थ कहा जाता था। उन्हें सत् की आराधना व सिद्धि से तीर्थ की आत्मा कहा जाता था। जहाँ वे रहते थे, वहीं तीर्थ बन जाते थे। तीर्थों का अवगाहन करके मनुष्यों की जीवनचर्या में आशाजनक सुधार परिवर्तन होता था। ऋषियों की व्यक्ति गत योग-साधना और तपश्चर्या इसी निमित्त थी कि वे सद्ज्ञान के भंडागार बनें और उस विभूति-संपदा से जन-जन के कल्याण का सरंजाम जुटाएँ॥ १०२-१०५॥

नारदो दर्शयामास रतानां ज्ञानसाधने।
ऋषीणां ता गुहा भूतकालिकानां सुमंगलाः॥ १०६॥
परिचयं तन्निवासस्य कार्यक्षेत्रस्य स व्यधात्।
अन्वभून्मण्डलं तच्च जातं क्षेत्रमिदं कथम्॥ १०७॥
विपिनं चान्दनं धन्यमिव वा नन्दनं वनम्।
जातं सुरभितं विश्वं सौरभेणास्य तत्कथम्॥ १०८॥
कारणं चैकमेवात्र क्षेत्रे बाहुल्यमत्र तु।
ऋषीणामुच्चव्यक्तित्व-पौरुषाणां पदे-पदे ॥ १०९॥

टीका—नारद जी ने ज्ञान-साधना में संलग्न रहे भूतकाल के अनेकानेक ऋषियों की मंगलमय गुफाएँ दिखाईं। उनके निवास एवं कार्यक्षेत्र का परिचय कराया। सभी मंडली ने अनुभव किया कि चंदनवन-नंदनवन की तरह यह क्षेत्र क्यों धन्य बना और क्यों उसकी सुगंध संसार भर में फैली? कारण एक ही था इस क्षेत्र में ऋषि समुदाय का बाहुल्य और उनका उच्चस्तरीय व्यक्तित्व एवं पराक्रम॥ १०६-१०९॥

हिमाद्रि-संगतानां तु महत्त्वानां समेऽपि ते।
ज्ञात्वा हेतुं रहस्यं च भृशं तोषमुपागमन्॥११०॥
अनन्तरं विशालायां गुहायां श्रमशान्तये।
गतास्ते कंदमूलैश्च फलैः शान्तां व्यधुः क्षुधाम्॥ १११॥
समये चागते सन्ध्यां नियतां ते समाप्य च।
हापिता रात्रिरत्यर्थं पुण्ये क्षेत्रेऽत्र विह्वलैः॥ ११२॥

टीका—सभी को हिमालय के साथ जुड़ी हुई महानता का रहस्य और कारण समझने के उपरांत बहुत संतोष हुआ। बड़ी कंदरा में विश्राम के लिए चले गए। समीप ही उगे कंद फलों से क्षुधा निवृत्ति की और समय आने पर नियमित संध्या-वंदन के उपरांत इसी पुण्य-क्षेत्र में भावविभोर उन लोगों ने रात्रि बिताई॥ ११०-११२॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देव संस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
महर्षि नारद प्रतिपादिते 'ऋषि प्रकरणम्' इति प्रकरणो नाम
॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः॥

हिमाद्रि हृदय प्रकरण

दिनं तृतीयमद्याभूत्प्रवासस्य हिमालये।
ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय कृतनित्यक्रियास्ततः॥ १॥
नारदस्य तु नेतृत्वे सज्जाः प्रवसितुं समे।
पुनीतानां स्थलानां च दर्शनैः सह ते पुनः॥ २॥
ज्ञानेनास्येतिहासस्य पौरुषोद्देश्ययोरपि।
हृदयगमानि तथ्यानि कर्तुं सौविध्यमाययुः॥ ३॥
ईदृशो नैव सम्प्राप्तो योगस्त्वानंददायकः।
पूर्वमेतेन क्वाप्यत्र भ्रमता मंडलेन तु॥ ४॥
प्रश्नोत्तरविधिश्चात्र चलतामेव शोभनः।
हृद्योऽभूच्च नृणां मार्गश्रमखेदं न ते गताः॥ ५॥
मनोविनोदयन्तस्ते लक्ष्यस्थानानि चाञ्जसा।
तरन्त्येव नवं दृश्यं पश्यन्तश्चोत्सुका भृशम्॥ ६॥
मंडलस्थः सदस्यः स ऋषिश्रेष्ठ उवाच च।
कणादः सहसा तत्र नारदं मुनिसत्तमम्॥ ७॥

टीका—आज हिमालय परिवार में प्रवास का तीसरा दिन था। ब्राह्ममुहूर्त में मुनि-मनीषियों की मंडली उठकर नित्य कर्म से निवृत्त हुई। महाभाग नारद जी के नेतृत्व में सभी प्रवास के लिए तत्पर हो गए। पुनीत स्थलों को देखने के साथ-साथ उसका इतिहास जानने एवं उद्देश्य, पुरुषार्थ का स्वरूप समझते चलने से तथ्यों को हृदयंगम करने में बड़ी सहायता मिल रही थी। ऐसा आनंददायक सुयोग इस भ्रमणशील मंडली को इससे पूर्व कभी भी मिला नहीं था। चलते-

चलते अनेक प्रश्न पूछने और उनके समाधान प्राप्त करने की पद्धति सभी को उत्तम लगी। इससे मार्ग का श्रम किसी को खलता नहीं था। हँसते-हँसते मंजिल पार होती रहती थी। नए दृश्यों को देखते हुए वह और भी उत्सुक हो रहे थे। मंडली के एक सदस्य ऋषिवर कणाद ने मुनि श्रेष्ठ नारद जी से पूछा— ॥ १-७ ॥

कणाद उवाच—

देवान्यत्रापि सन्त्येव शोभाः प्रकृतिजास्तथा।
जलवायुकृतं चास्ति वातावरणमुत्तमम् ॥ ८ ॥
तदुपेक्ष्य कथं सर्व आत्मवेत्तार एव च।
शीताधिक्यमथाप्यत्र विद्यमानं पदे पदे॥ ९ ॥
अवरोहमथारोहमसौविध्यकरं परम्।
अविचार्यैव वासं स्वं निश्चिन्वन्ति कथं त्विह॥ १० ॥
त्यक्त्वा सामाजिकं चात्र गुहावासकरं कथम्।
एकान्तं जीवनं सर्वे वाञ्छन्त्येते महर्षयः॥ ११ ॥
बोद्ध्यतां कृपया चैतद्रहस्यं भवताद्भुतम्।
आकर्ण्य प्रश्नमेतत्तु जगाद नारदो मुनिः॥ १२ ॥

टीका—कणाद ने कहा—हे देव! संसार में अन्यत्र भी अनेक प्राकृतिक शोभा और अनुकूल जलवायु वाले स्थान हैं। उनकी उपेक्षा करके आत्मवेत्ता उत्तराखंड को ही अपनी साधनाओं के लिए क्यों उपयुक्त समझते हैं। शीत अत्यधिक होने तथा पद-पद पर चढ़ने-उतरने की असुविधा को ध्यान न देकर वे यहीं क्यों अपना निवास-क्षेत्र चुनते हैं? समूह में न रहकर एकाकी गुहा जीवन किसलिए पसंद हैं, इसका रहस्य समझाने का अनुग्रह करें। इस प्रश्न को सुनकर महर्षि नारद ने कहा— ॥ ८-१२ ॥

नारद उवाच—

यथैवान्तर्ग्रहादानप्रदानाभ्यां भुवस्त्विदम् ।
उत्तरस्थं ध्रुवस्थानं भृशं संवेद्यतां गतम्॥ १३ ॥
चुंबकक्षमता तत्र विशाला विद्यते तथा।
पृथिव्यां विपुलान्यत्र ब्रह्मण्डोदरगानि तु॥ १४ ॥
अनुदानान्यनेनैव पथा मध्यंगतेन तु।
अवतरन्ति समग्रं च यान्ति नूनं धरातलम्॥ १५ ॥
व्यापकानां तथा ब्रह्मचेतनानां तथैव तु।
तत्स्थानमनुदानानां वसुधाचुम्बिनां ध्रुवम्॥ १६ ॥
यद् वदन्ति बुधा दिव्यं हिमाद्रेर्हृदयं त्विदम्।
उत्तराखंडशीर्षस्थं सुमेरोस्तु समीपगम्॥ १७ ॥
सर्वसाधारणागम्यं निवसन्ति च यत्र ते।
सूक्ष्मकायानुगा देवमानवा एव केवलम्॥ १८ ॥
ऋषयः स्थूलकायास्तु सर्वे ते च मनीषिणः।
अध्यात्मध्रुवशक्तेश्च भागे तत्र प्रभाविते॥ १९ ॥
वसन्तीह सदा येषु क्षेत्रेष्वत्रोत्तमेषु तु।
जीवनं यापितुं नूनं विद्यंते साधनानि तु॥ २० ॥

टीका—नारद जी ने कहा—जिस प्रकार अंतर्ग्रही आदान-प्रदान के लिए पृथ्वी का उत्तरीध्रुव अत्यधिक संवेदनशील है, वहाँ की चुंबकीय क्षमता बढ़ी-चढ़ी है तथा पृथ्वी पर अगणित ब्रह्मांडीय अनुदान इसी क्षेत्र के माध्यम से अवतरित होते और फिर वे समूचे धरातल पर प्रवाह की तरह फैलते हैं। उसी प्रकार व्यापक ब्रह्मचेतना के पृथ्वी पर अवतरित होने वाले अनुदानों का केंद्र वह स्थान है,

जिसे विद्वान लोग हिमालय का हृदय कहते हैं। यह उत्तराखंड के शीर्ष सुमेरु शिखर के समीपवर्ती क्षेत्र में है एवं सर्वसाधारण के लिए अगम्य है। वहाँ सूक्ष्मशरीर प्रधान देवमानव ही निवास करते हैं। स्थूल शरीरधारी ऋषि-मनीषी, उसे अध्यात्म ध्रुव के प्रभाव क्षेत्र में उन स्थानों पर रहते हैं, जहाँ जीवनयापन के साधन हैं॥ १३-२०॥

तादृशं विद्यते नूनमुत्तराखंडमुत्तमम् ।
स्थानं वातावृतौ यत्र प्रभावोऽध्यात्मसंभवः॥ २१॥
विद्यतेऽधिक् एवान्यस्थानेभ्यश्चाञ्जसाऽस्ति सः।
ब्रह्मांडव्यापिचैतन्यधारा-संपर्क-संभवः ॥ २२॥
देवशक्तिभिरादानप्रदानस्थितयेऽधिकम् ।
उपयुक्तं मतं क्षेत्रमिदं श्रेष्ठं मनीषिभिः॥ २३॥
शीतमुख्येषु भागेषु शक्तिः सा जीवनानुगा।
लभ्यतेऽधिक-मात्रायां तत्रत्या अतएव तु॥ २४॥
जना अपेक्षया स्वस्थतराः सौन्दर्यशालिनः।
भवन्त्येषां स्वभावश्च कोमलो भवति स्वतः॥ २५॥
आहाराय विहाराय सामग्री विपुलास्ति च।
वर्ततेऽत्र मनःस्थैर्यशान्तिभ्यामनुकूलता ॥ २६॥
निवासिनश्च तेऽत्रत्या जीवन्त्यधिकमुत्तमाः ।
एतादृशे कृताः सर्वैर्वातावरण उत्तमे ॥ २७॥
प्रयासा लब्धुमध्यात्मविभूतीः सफलाः सदा।
जायन्तेऽधिकमात्रायां शीघ्रं चापि न संशयः॥ २८॥

टीका—उत्तराखंड वैसा ही क्षेत्र है। यहाँ के वातावरण में अन्यत्र की तुलना में अध्यात्म प्रभाव अधिक है। ब्रह्मांडव्यापी ब्रह्मचेतना की

अनेकानेक धाराओं में से यहाँ रहकर सरलता पूर्वक संपर्क साधा जा सकता है। दैवी शक्तियों के साथ आदान-प्रदान चलाने की दृष्टि से यह श्रेत्र श्रेष्ठ एवं अधिक उपयुक्त पाया गया है। शीतप्रधान क्षेत्रों में जीवनीशक्ति की मात्रा अधिक पाई जाती है। वहाँ के निवासी अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ और सुंदर होते हैं। स्वभाव भी मृदुल होता है। आहार-विहार के लिए उपयुक्त सामग्री का बाहुल्य रहता है। मन की स्थिरता और शांति के लिए यहाँ अधिक अनुकूलता रहती है। यहाँ के श्रेष्ठ निवासी अधिक दिन जीते हैं। ऐसे वातावरण में अध्यात्मिक विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयास अपेक्षाकृत अधिक जल्दी और अधिक मात्रा में सफल होते हैं॥ २१-२८॥

सेवार्थं साधनार्थं च मत आवश्यकस्त्वयम्।
जनसंपर्क एकान्तोऽपेक्ष्य एवात्मनः सदा॥ २९॥
परिष्काराय तस्मै च मनोनिग्रह हेतवे।
विनैतन्नैव सिद्धिं ते लभन्ते साधका इह॥ ३०॥
वातावृतौ सदेदृश्यां सर्वे वैज्ञानिकास्तथा।
साहित्यिका महान्तस्ते कवयो योगिनोऽपि च॥ ३१॥
जना उच्चस्तराः स्वेषु विषयेष्विच्छितेष्वलम्।
चित्तं स्थिरयितुं शक्ता भूतीर्लब्धुं परा अपि॥ ३२॥
महान्तः पुरुषा यत्र घटनाश्च महत्त्वगाः।
सम्पद्यंते तु यत्रैव प्रभावस्तत्र शिष्यते॥ ३३॥
उच्चश्चेत्स प्रभावस्तु चिरं तिष्ठति सर्वतः।
क्षेत्रेऽस्मिन् विद्यते नूनं वार्ता हिमगिरावपि॥ ३४॥
लीलाभूमिरिदं क्षेत्रं देवानां च तपस्विनाम्।
ऋषीणां महतां नृणां हिमाद्रेर्निकटस्थितम्॥ ३५॥

पुरातनः प्रभावः स विद्यते चाधुनापि तु।
क्षेत्रेऽस्मिन् बीजमुप्तं तदुर्वरायां फलेद् भुवि॥ ३६॥
क्षेत्रेऽस्मिन् विहिता शीघ्रं साधना सा फलत्यलम्।
ऐतिह्यस्मरणादेव प्रेरणा प्राप्यतेऽञ्जसा ॥ ३७॥

टीका—सेवा-साधना के लिए जनसंपर्क आवश्यक है, किंतु मनोनिग्रह और आत्मपरिष्कार के लिए अंतर्मुखी होना पड़ता है, उसके लिए एकांत की आवश्यकता पड़ती है, उसके बिना साधक सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है। ऐसे ही वातावरण में वैज्ञानिक, साहित्यकार, कवि, योगीस्तर के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अभीष्ट विषयों पर अधिक ध्यान एकाग्र कर सकते हैं और अधिक गहराई में उतरकर अधिक मूल्यवान विभूतियाँ हस्तगत कर सकते हैं। महान व्यक्ति जहाँ जन्म लेते हैं और महान घटनाएँ होती हैं, वहाँ अपना प्रभाव छोड़ती हैं और यदि वह उच्चस्तरीय है तो चिरकाल तक बना रहता है वह बात इस हिमालय-क्षेत्र में पाई जाती है। हिमालय देवताओं, ऋषियों, तपस्वियों, महामानवों की लीलाभूमि रही है। उस क्षेत्र में वह पुरातन प्रभाव अभी भी विद्यमान है। उर्वर भूमि में बोया हुआ बीज जल्दी और अधिक फलित होता है। इस क्षेत्र में बोई हुई साधना भी अधिक फलवती होती देखी गई है। ऐतिहासिक घटनाओं के स्मरण से भी अनायास ही तद्विषयक प्रेरणाएँ मिलती हैं॥ २९-३७॥

एतत्क्षेत्रे समुत्पन्ना वनस्पतय उत्तमाः।
सन्ति चैवं विधास्तस्य वातावरणमुत्तमम्॥ ३८॥
क्षेत्रस्यैतत्प्रभावेण भावितं सेवनं विना।
प्रभावयति सर्वांश्च साधकांस्तान्निरन्तरम् ॥ ३९॥

वायुस्तत्स्पर्शनिर्यातः शरीरं मन एव च।
अंतरुल्लासयत्याशु यदाश्रित्य मनोबलम्॥ ४० ॥
तिष्ठत्युच्चगतं स्याच्च भावनोत्कृष्टताऽधिका।
सहायका भवन्त्येवं स्थितयोऽध्यात्मतोदये॥ ४१ ॥
उत्तराखंडसंभूता नद्य आरोग्यवर्द्धकम्।
चित्तसंतुलनोद्गारि वहन्त्यादाय वारि च॥ ४२ ॥
शिखरस्था हिमानीयं प्रवात्यादित्यतेजसा।
क्षेत्रे पाषाणयुक्ते चाक्षुण्णं वैशिष्ट्यमस्य तु॥ ४३ ॥
हिमजलस्य सदा तिष्ठत्यग्रे नागरिके स्थले।
दूषितं जलमेतच्च शुद्धतां नो जहाति तु॥ ४४ ॥
अत्रत्यानां नदीनां तु निर्झराणां च विद्यते।
जलं सहायकं शक्तेर्वृद्धौ च मलशोधने॥ ४५ ॥

टीका—इस क्षेत्र में उगने वाली वनस्पतियाँ भी ऐसी हैं, जिनका सेवन किए बिना भी उस क्षेत्र का वातावरण बहुत प्रभावी रहता है तथा समस्त साधकों को प्रभावित करता है। उनको स्पर्श करके बहने वाली वायु शरीर, मन और अंतराल को ऐसा उल्लास प्रदान करती है, जिनके सहारे मनोबल ऊँचा रहे और भावनाओं में उत्कृष्टता का अनुपात बढ़ा रहे। ऐसी परिस्थितियाँ आत्मिक प्रयोजनों की सफलता में बहुत सहायक सिद्ध होती हैं। उत्तराखंड की सभी नदियाँ आरोग्यवर्द्धक और मानसिक संतुलन बनाने वाला जल लेकर बहती हैं। शिखरों पर ज़मा हुआ हिम सूर्यताप से पिघलता है, जो पत्थर वाले क्षेत्रों में अपनी विशिष्टता अक्षुण्ण बनाए रखता है। आगे चलकर नगरों की गंदगी मिलने पर वह दूषित होता है, फिर भी अपनी शुद्धता को खोता नहीं। अस्तु, यहाँ के नदी और निर्झरों द्वारा प्राप्त हुआ जल

मलों के शोधन एवं बल अभिवर्द्धन में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है ॥ ३८-४५ ॥

नदीष्वेतासु गंगा तु मुख्येयं वर्ततेऽनघा।
जलमस्यामृतं दिव्यमाधिव्याधि विनाशकम् ॥ ४६ ॥
पुण्येनास्या जलेनात्र खनिजानामथापि च।
वन्यानामौषधीनां च मिश्रणं विपुलं मतम् ॥ ४७ ॥
औषधं जाह्नवीतोयमतएव तदुच्यते।
वैशिष्ट्यं च निजं नूनं क्षेत्रजं भवति स्वतः ॥ ४८ ॥
गुणास्तदनुरूपाश्च तत्र जातेषु निश्चितम्।
पदार्थेषु समेष्वेव जायन्ते च यथा तथा ॥ ४९ ॥
गंगावतरणरूपे च गंगायाः परमाद्भुतम्।
कृतं वैज्ञानिकं चेत्थं विद्वद्भिस्तु विवेचनम् ॥ ५० ॥
मरीचिरूपं यच्चात्र जलं तत्पूर्णरूपतः।
निर्दोषं कथितं तेजो जले परिणतं भवेत् ॥ ५१ ॥
अंतरिक्षस्थितेष्वेतत्तेजो युक्तेषु संभृतम्।
जलमाकाशगंगादिपिण्डेष्वस्ति तु यच्छुभम् ॥ ५२ ॥
उत्तरस्थे ध्रुवक्षेत्रे याति सूर्यास्त्रसंगतेः।
विष्णुपादाब्जसंभूता सोच्यते ह्यतएव तु ॥ ५३ ॥
उत्तरस्थं ध्रुवक्षेत्रं नाभिरस्य च मन्यताम्।
ब्रह्मांडस्यात एवोक्तं सैति ब्रह्मकमंडलौ ॥ ५४ ॥
पतत्येषाऽन्तरिक्षेऽतो जटायां शंकरस्य तु।
अंतरिक्षं जटा तस्य व्योमकेशस्य सम्मतम् ॥ ५५ ॥

पतत्येवं हिमाद्रौ सा हिमरूपतया सदा।
गोमुखादथनिर्याति प्रत्यक्षं वारितां गता॥५६॥
मरीचिजलदिव्यत्व कारणादेव निर्मले।
गंगाजले समायान्ति नैव विकृतयोऽशुभाः॥५७॥
औषधं जाह्नवीतोयं यतोऽस्याः सलिलस्य तु।
मुख्यं स्रोतोऽन्तरिक्षेऽस्ति न पृथिव्यां तु कुत्रचित्॥५८॥
पार्थिवेषु पदार्थेषु प्रायो विकृतयः सदा।
तत्कालं हि समायान्ति यातयामं तदुच्यते॥५९॥
गंगाजलं तु तद्दिव्यमपवादतयाऽस्य तु।
विद्यते कारणं चात्र वर्तते चेदमेव हि॥६०॥

टीका—गंगा इन सभी नदियों में प्रधान है। उसका जल आधिव्याधियीं का निवारण करने वाला माना गया है, उसके साथ दिव्य वनौषधियों तथा खनिजों की उपयोगी मात्रा घुली रहती है। अतएव वह ओषधि रूप बन जाता है। हर क्षेत्र की अपनी विशेषता होती है, उसके अनुरूप ही वहाँ उत्पन्न होने वाले खाद्य पदार्थों के गुण रहते हैं। गंगावतरण में गंगा की अद्भुत वैज्ञानिक विवेचना विद्वान इस प्रकार बताते हैं। संसार में विद्यमान जलों में मरीचिजल (किरण रूप में विद्यमान जल) पूर्ण निर्दोष माना गया है, यही तेज जल रूप में परिणत होता है। आकाश में अनेक तेजस्वी पिंडों (आकाशगंगा आदि) में विद्यमान यह मरीचिजल उत्तरीध्रुव में सूर्य की किरणों के संपर्क से पहुँचता है। यही गंगा का विष्णु (सूर्य) के चरणों (किरणों) से निकलकर ब्रह्म कमंडलु में जाना कहा गया है। उत्तरीध्रुव इस अपने ब्रह्मांड की धुरी है, यही ब्रह्मा (ब्रह्मांड) का कमंडलु (धुरी या नाभि) है। वहाँ से वह (गंगा) अंतरिक्ष में गिरती है,

अंतरिक्ष ही शिवजटा है, क्योंकि शिवजी को व्योमकेश भी कहते हैं। व्याम अर्थात—अंतरिक्ष जिनके केश अर्थात—बालस्वरूप है। वहाँ से वह (गंगा) हिमालय पर घनीभूत बरफ बनकर गिरती है। तदंतर जल रूप में गोमुख से बहती हुई दीखती है। उसी मरीचिजल की दिव्यता के कारण गंगाजल में सहसा विकृति नहीं आती हैं। चूँकि इसके जल का मुख्य स्रोत पृथ्वी में नहीं है, अंतरिक्ष में है। इसीलिए यह ओषधि रूप में है। पार्थिव पदार्थों में तत्काल विकृतियाँ देखी जाती हैं, उसे बासी कहा जाता है, किंतु गंगाजल इसी कारण इसका अपवाद है॥ ४६-६०॥

हिमाद्रिवासिनो येषां वृक्षाणां ज्वालयन्ति ते।
दारूणि, भुञ्जते शाकफलकंदान्नमुत्तमम्॥ ६१॥
तेन नैव नृणामेवान्येषामपि शरीरिणाम्।
शरीरं चित्तमेवापि जायते सात्त्विकं परम्॥ ६२॥
नंदनवनमालिंग्य क्षेत्रजा वान्ति ये सदा।
वायवः प्राणसञ्चारमिव ते कुर्वते भृशम्॥ ६३॥
विना श्रमं च तेऽत्रत्या लाभं वातावृतेर्भृशम्।
वैशिष्ट्यस्य जनाः सर्वे प्राप्नुवन्ति निरंतरम्॥ ६४॥
सर्वांगसुंदरो नैवं सुयोगोऽन्यत्र लभ्यते।
अध्यात्ममार्गयोक्तारो वसन्त्यत्रैव सर्वदा॥ ६५॥
अन्यत्राधिकालेन विपुलेन श्रमेण च।
लभन्ते यत्तदल्पेन कालेनात्राप्नुवन्ति च॥ ६६॥
हिमाद्रिहृदयं चैतदुत्तराखंडमुत्तमम्।
साधकेभ्यस्त्वसंख्येभ्यः साफल्यं प्रददात्यलम्॥ ६७॥
अनुभवं तं समाश्रित्य वसन्त्यत्रैव साधकाः।
उत्साहश्चलितुं येषां विद्यतेऽत्र पथि स्वयम्॥ ६८॥

अंतर्ग्रहानुदानं तदन्तर्लोकं तदुत्तमम् ।
वरदानमिहाप्तुं चापेक्षया सुविधाकरम् ॥ ६९ ॥

टीका—हिमालय निवासी जिन वृक्षों की लकड़ियों को जलाते हैं, जो शाक, कंद, फल, अन्न खाते हैं, उससे मनुष्य के ही नहीं, अन्य प्राणियों के शरीर मन भी अपेक्षाकृत अधिक सात्त्विक रहते हैं। नंदनवन को स्पर्श करके बहने वाली इस क्षेत्र की हवाएँ प्राण चेतना का संचार करती हैं और बिना परिश्रम के भी यहाँ के निवासी वातावरण की विशिष्टता का लाभ उठाए रहते हैं, यह सर्वांग सुंदर सुयोग अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। अस्तु, अध्यात्म मार्ग के प्रयोक्ता इसी भूमि में डेरा डालते हैं और अन्यत्र अधिक दिन तक कठोर श्रम करने पर जो उपलब्ध होता है, उसे वे स्वल्प समय और स्वल्प प्रयास में ही प्राप्त कर लेते हैं। हिमालय का हृदय कहा जाने वाला उत्तराखंड क्षेत्र अगणित साधकों को मूल्यवान सफलताएँ प्रदान करता रहा है। उस अनुभव के आधार पर जिन्हें इस मार्ग में उत्साह है, वे अन्यत्र की अपेक्षा यहाँ डेरा डालते हैं। अंतर्ग्रही अनुदानों और अंतर्लोकीय वरदानों को उपलब्ध कराने में यहाँ अन्यत्र की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधा है॥ ६१-६९ ॥

अनपेक्षस्तु सम्मर्दोऽकारणं विक्षिपत्यलम्।
दुर्गुणैश्चनिजैर्दोषैः प्रभवन्ति च साधकान्॥ ७० ॥
एतादृशानां सम्मर्दो जनानां याति तत्र च।
मनोरञ्जनमत्यर्थं विलासव्यवसा ययोः ॥ ७१ ॥
साधनानि तु विद्यन्ते तानि कौतूहलस्य च।
क्षेत्रे हिमालयस्यात्र नैव किञ्चित्तु विद्यते॥ ७२ ॥

शैत्याधिक्यादथारोहावरोहासुविधाविधे: ।
विलाससाधनाल्पत्वान्नायान्त्यत्रानुरागिण: ॥ ७३ ॥
आयान्त्यपि न तिष्ठन्ति चिरमेतत्तु विद्यते।
स्वच्छता पूतताहेतोरध्यात्मन्युत्तमं क्रमे ॥ ७४ ॥
ये वसन्तीह सन्त्येते प्राय: सौम्याश्च सात्त्विका:।
निर्धना अपि ते सन्ति सच्चरित्राश्च निश्छला: ॥ ७५ ॥
हिंसका पशवोऽप्यत्र पक्षिणश्च भवन्ति तु।
अन्यत्रापेक्षया नूनमाक्रांतारोऽल्परूपत: ॥ ७६ ॥
मनुष्यै: सह तेषां च कादाचित्को विलोक्यते।
जनैर्दुर्व्यवहारस्तु प्रसंगै: कैश्चिदेव तु ॥ ७७ ॥
साधका निर्भयं तेषां मध्ये स्वदैनिकं क्रमम्।
निर्वहन्ति जना: सन्ति संकुलक्षेत्रवासिन: ॥ ७८ ॥
छलिनो व्यसनासक्ता आक्रांतारोऽथ दुर्धिय:।
दुर्गुणैकरता: शांतमेकान्तमिदमुच्यते ॥ ७९ ॥

टीका—निरर्थक भीड़ अकारण विक्षेप करती है। अपने दोष-दुर्गुणों का प्रभाव साधकों पर छोड़ती है। ऐसे लोग वहाँ अधिक संख्या में पहुँचते हैं, जहाँ विलास-व्यवसाय के, मनोरंजन-कुतूहल के साधन अधिक रहते हैं। हिमालय-क्षेत्र में वैसा कुछ है नहीं। शीत की अधिकता उतार-चढ़ाव की असुविधा, विलास के साधनों की न्यूनता के कारण संसार प्रवृत्ति के लोग यहाँ पहुँच नहीं पाते, पहुँचते हैं तो रुकते नहीं। यह पवित्रता और स्वच्छता दोनों ही दृष्टि से अध्यात्म के प्रयोजनों के लिए अतीव उत्तम है। जो निवास करते हैं, उनमें से अधिकांश सौम्य-सात्त्विक प्रवृत्ति के होते हैं। निर्धन होने पर

भी उन्हें निष्कपट सदाचारी पाया जाता है। यहाँ तक कि हिंसक पशु-पक्षी तक अन्यत्र की तुलना में कम आक्रामक पाए जाते हैं। मनुष्यों के साथ तो उनका दुर्व्यवहार कभी कदाचित् विशेष प्रसंगों में ही देखा जाता है। साधक प्रकृति के लोग उनके बीच निर्भय होकर निर्वाह कर लेते हैं। घिचपिच क्षेत्रों का जनसमुदाय, दुर्व्यसनी, दुर्गुणी, छली और आक्रामक पाया जाता है, यह क्षेत्र एकांत-शांत है ॥ ७०-७९ ॥

संकुलक्षेत्रजावासः साधनादृष्टितः सदा।
चित्तोद्वेगकरो दृष्टः प्रयासोऽनर्थकृत्तथा ॥८०॥
अस्ति प्रयोगशालेव संपन्ना साधनैः स्वयम्।
हिमाद्रिः शक्तयोऽसंख्या दृश्यंते स्फुरितास्तु ताः ॥ ८१ ॥
एतत्संपर्कतश्चात्र साधकानां वपुः स्वयम्।
स्थूलं सूक्ष्मं प्रसुप्ताः स्वाः शक्तीरुद्बोद्धुमर्हति ॥ ८२ ॥
मानवस्य शरीरं तु ब्रह्मांडानुकृतिः स्वयम्।
सर्वोपकरणान्यत्र विद्यंते संस्थितानि तु ॥ ८३ ॥
उद्बुद्धानि विधायात्र यानि योक्तं च संभवेत्।
आत्मानं प्रकृतेः शक्त्या यावदावश्यकं तथा ॥ ८४ ॥
ग्रहीतुं धर्तुमेवाऽपि संभवेत्तावदेव च ।
उपलब्धुमिहास्त्येव पूर्णा संभावनाऽपि सा ॥ ८५ ॥
एतदर्थं प्रसुप्तं च बोद्धुमंतर्गतं समैः ।
साधकैर्जागृतं कर्तुमिष्यते सर्वदैव तु ॥ ८६ ॥
प्रक्रिया साधनाभिश्च सिद्धिः सा लभ्यते जनैः।
आदातुमपि शक्तीस्ता दिव्यास्तासां दयाप्तये ॥ ८७ ॥

विधिरेक इहास्त्येष प्रसुप्तां दिव्यतां निजाम्।
कुर्याज्जनः साधकोऽत्र तामुद्बुद्धां तु केवलम्॥ ८८॥

टीका—साधना की दृष्टि से घिचपिच स्थानों में निवास मन को उद्विग्न करने वाला और प्रयास को असफल बनाने वाला देखा गया है। हिमालय स्वयं एक साधनसंपन्न प्रयोगशाला है। उससे प्रकृति की अगणित शक्ति याँ अपेक्षाकृत अधिक सजग पाई ज़ाती हैं। इनके संपर्क में साधकों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर अपनी प्रसुप्त शक्तियों को जगाने में अधिक सफल रहते हैं। मनुष्य का काय पिंड इस ब्रह्मांड की अनुकृति है। उसमें वे सभी उपकरण समाहित हैं, जिन्हें जाग्रत और सक्षम बना लेने पर प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों के साथ अपने को जोड़ा जा सकता है और धारण किया जा सकता है। उसे उपलब्ध करने की पूरी संभावना रहती है। इसके लिए अंतर्निहित प्रसुप्त को जगाना पड़ता है। इसी प्रक्रिया को साधना से सिद्धि की उपलब्धि कही जाती है। दैवी शक्तियों को आकर्षित करने और उनकी अनुकंपा पाने के लिए एक ही उपाय है—साधक का अपनी प्रसुप्त दिव्यता को जगा लेना॥ ८०-८८॥

योगाभ्यासे च चैतन्यं व्यक्तेः सम्बद्ध्यते तया।
ब्रह्मचेतनया प्रोक्ता विद्वद्भिस्तु समष्टिगा॥ ८९॥
संबंधे चोभयोर्जाते दानादाने क्रमात्ततः।
जायेते समतां जीवशक्तिरेति परात्मनः॥ ९०॥
आधारमिमाश्रित्य द्रष्टाः सिद्धा नरा इह।
दिव्यतामर्जयन्तस्ते कुर्वन्तो देवभूमिकाम्॥ ९१॥
चुंबकत्वस्य यस्यैवानिवार्यत्वमपेक्ष्यते।
आकर्षणाय पात्रत्वधृतयेऽपेक्ष्यते च यत्॥ ९२॥

तपसा प्राप्यते तत्तु तपश्चात्मपरिष्कृतिः।
तितिक्षाग्नौ प्रतप्तस्य प्रखरत्वमदोषता ॥ १३ ॥
तपश्चर्या न वै देवान् बाध्यान् कर्तुं दुराग्रहः।
विद्यतेऽपि तु चैतन्याच्छादिकानां तु वर्तते ॥ १४ ॥
पशुजन्यप्रवृत्तीनां पुरुषार्थेन भूयसा।
समूलोन्मूलनं येन स्वरूपं स्वं प्रपद्यते ॥ १५ ॥
अस्मिन्नग्नौ नरस्तप्त्वा स्वर्णकान्तिं भजत्यलम्।
जायते प्रतिभावांश्च लभते परिपक्वताम् ॥ १६ ॥

टीका—योगाभ्यास में व्यक्ति की चेतना को समष्टिगत ब्रह्मचेतना के साथ जोड़ा जाता है। दोनों के मिलन पर ऐसा आदान-प्रदान चल पड़ता है, जिसमें जीवात्मा की सामर्थ्य परमात्मा के समतुल्य बन सके। सिद्धपुरुष इसी आधार पर दिव्यता अर्जित करते और देवताओं जैसी भूमिका संपन्न करते देखे गए हैं। आकर्षण के लिए जिसे चुंबकत्व की आवश्यकता है, धारण के लिए पात्रता की आवश्यकता है, उसे तपश्चर्या द्वारा प्राप्त किया जाता है। तप का तात्पर्य है— आत्मशोधन। अपने आपको तितिक्षा की अग्नि में तपाकर निर्मल और प्रखर बना लेना। तपश्चर्या देवताओं को बाधित करने का दुराग्रह नहीं है, वरन चेतना पर चढ़ी हुई पशु-प्रवृत्तियों को पुरुषार्थ पूर्वक उखाड़ना है, जिससे साधक अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करते हैं। इस अग्नि में तपने से मनुष्य सोने के समान कांतिवान और प्रतिभावान बनता है। परिपक्वता इसी आधार पर आती है ॥ ८९-९६ ॥

यस्यां कष्टानि सह्यन्ते तयैव दिनचर्यया।
बर्द्धते पौरुषं शौर्यं तथैतच्च मनोबलम् ॥ १७ ॥
आसाद्येमा विभूतीश्च तापसाः शक्तिशालिनः।
जायंते सुविधासक्ता निःसत्त्वाश्च विलासिनः ॥ १८ ॥

न ते कर्तुं समर्थाश्च शौर्यसाहससंयुतम्।
पराक्रमं, यतो लभ्यं साफल्यं भौतिकस्तरम्॥ ९९॥
भवेदध्यात्मगाः स्युश्च हस्तगास्ता विभूतयः।
जायते तपसा चास्य दौर्बल्यस्य निराकृतिः॥ १००॥
संयमैकधना ये तु विक्रमैकरसा नराः।
अनौचित्येन युद्ध्यन्ते ये ते शूरास्तपस्विनः॥ १०१॥
तप एव च विश्वेऽस्मिन् बलं प्रोक्तं परं महत्।
यथा व्यायामशालायां पूर्णायां साधनैर्नरः॥ १०२॥
शिक्षकस्योपयुक्तस्य वातावरणकस्य च।
साहाय्येन क्रमान्मल्लो जायते दृढविग्रहः॥ १०३॥
तथा विशेषतास्वस्य हिमाद्रेर्ये वसन्ति तु।
प्राप्यन्ते तैर्महत्यस्ताः सिद्धयोऽध्यात्मसंभवा॥ १०४॥
प्रतिबंधो न तस्मिंस्तु यद्यपि क्वापि विद्यते।
स्थितिरत्र तु सा तद्वत्सफलं स्याद्दुतौ कृतम्॥ १०५॥

टीका—कष्ट-सहिष्णु जीवनचर्या से मनोबल और शौर्य-पराक्रम बढ़ता है। इन्हीं विभूतियों को अर्जित करने के कारण तपस्वी लोग परम शक्तिशाली बनते हैं। सुविधाओं से खेलने वाले विलासी लोग भीतर से खोखले होते हैं और वे शौर्य-साहस भरा वैसा पराक्रम कर नहीं पाते, जिससे भौतिक स्तर की सफलताएँ तथा आत्मिक स्तर की विभूतियाँ हस्तगत हो सकें। इस दुर्बलता का निराकरण तपश्चर्या द्वारा होता है। संयमी, पराक्रमी एवं अनौचित्य से लड़ने वाले शूरवीरों को तपस्वी कहते हैं। तप ही इस संसार का सबसे बड़ा बल है। जिस प्रकार साधन-संपन्न व्यायामशाला में, उपयुक्त शिक्षक एवं वातावरण

की सहायता से मनुष्य एक सधा हुआ पहलवान बनता है। उसी प्रकार हिमालय की विशेषताओं में रहते हुए अध्यात्म-क्षेत्र की सिद्धियाँ अधिक अच्छी तरह प्राप्त की जा सकती हैं। यों उस उपार्जन पर प्रतिबंध कहीं भी नहीं है, परंतु यहाँ वही स्थिति है, जैसे ऋतु के अनुकूल किए गए कार्य सदा सफल होते हैं॥ ९७-१०५॥

तापसा एव जायंते योगिनो नैव निर्गताः।
जायंते ते विकारा वा विलासा विविधा मलाः॥ १०६॥
यावत्तावन्न जीवस्य सिद्धयेस्यदत्र परात्मना।
योगः सञ्जायते येन सच्चिदानंदरूपता॥ १०७॥
अध्यात्मसाधकैर्भाव्यं प्रथमे चरणे त्विह।
तापसैरथ कर्त्तव्यो योगाभ्यासोऽपरे क्रमे॥ १०८॥
समन्विततया चोभौ पादन्यासौ तु कुर्वता।
संभाव्या लक्ष्यसंप्राप्तिः पूर्णतायास्ततः स्वतः॥ १०९॥
तत्र चाद्यतनायां स यात्रायां नारदो मुनिः।
दर्शयामास सर्वं तन्मंडलं तु मनीषिणाम्॥ ११०॥
स्थानानिं दिव्यरूपाणि बहून्येवं विधानि तु।
ऋषिभिर्यत्र योगस्य-तपसश्च कृतः श्रमः॥ १११॥
तेषां नामानि चैतिह्यं बोधयन्नारदो मुनिः।
तथ्यमेतदवोच्च्व मानवः कथमेष तु॥ ११२॥
वपुः प्रयोगशालायां तपो-योगसमुद्भवम्।
प्रखरत्वं समुत्पाद्य देवभूतियुतो भवेत्॥ ११३॥
कार्यं तच्च हिमाद्रेस्तु क्षेत्रे वासेन तत्कियत्।
सरलं जायते नृणां साधकः क्षेत्रगामिनाम्॥ ११४॥

टीका—तपस्वी ही योगी बनते हैं। विलास और विकार की गंदगी जब तक बुहारी नहीं जाती, तब तक आत्मा और परमात्मा का योग सधता नहीं, जिससे सच्चिदानंदरूपता की उपलब्धि होती है। अस्तु, अध्यात्म साधकों को प्रथम चरण तपस्वी बनने का और दूसरा चरण योगाभ्यास करने का उठाना होता है। इसी प्रकार दोनों कदम समन्वित रूप से उठाते हुए पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना संभव होता है। आज की यात्रा में नारद जी ने मनीषियों की मंडली को ऐसे अनेक स्थान दिखाए, जिनमें ऋषियों ने तपश्चर्या और योग-साधना का प्रबल पुरुषार्थ किया। उनका नाम जताते, इतिहास बताते हुए यह तथ्य समझाया कि काया की प्रयोगशाला में तप-योग की प्रखरता उत्पन्न करके मनुष्य किस प्रकार देवोपम विभूतियों से संपन्न हो सकता है। वह कार्य हिमालय के क्षेत्र में निवास करने पर साधक मनुष्यों को कितना सरल पड़ता है॥ १०६-११४॥

विना शैथिल्यमेवाद्य यात्रेयं पूर्णतां गता।
योजनाबद्धरूपेण विधाय भ्रमणं तथा॥ ११५॥
दृष्ट्वा सर्वमपि स्वान्तं जातं नैव निरुत्सुकम्।
अभूदुत्कण्ठितं भूयो ज्ञातुं बोद्धुं मनः पुनः॥ ११६॥
परं विवशता तत्र जाता सूर्यो यतोऽगमत्।
अस्ताचलं विरामोऽतः प्रवासस्य कृतः समैः॥ ११७॥
देवप्रयागो रामस्य भगवतस्तु तपः स्थलम्।
लक्ष्मणस्य च कुब्जाम्रतपोभूमेरदूरतः॥ ११८॥
भरतस्यापि विज्ञाय विस्मिताः सर्व एव ते।
उत्तराखंडमाहात्म्यं मेनिरे परमाद्भुतम्॥ ११९॥

उपयुक्तं नवं स्थानमन्विष्याथ विधाय च।
विश्रामस्य व्यवस्थां तु निशां तेऽप्यगमन् सुखम्॥ १२०॥

टीका—आज की लंबी यात्रा बिना थके पूरी हो गई। योजना भ्रमण कर लेने और बहुत कुछ देख लेने पर भी मन भरा नहीं। अधिक जानने-देखने की उत्कंठा बनी रही, किंतु विवशता थी। सूर्यास्त हो जाने पर प्रवास को विराम देना पड़ा। देवप्रयाग भगवान राम की तथा (ऋषिकेश से) कुब्जाम्र तीर्थ से थोड़ी दूरी पर स्थित लक्ष्मण झूला, लक्ष्मण की व पास ही भरत की तपस्थली है, यह जानकर सभी को आश्चर्य हुआ व उन्होंने उत्तराखंड के माहात्म्य का अद्भुत अनुभव किया। अंततः उपयुक्त स्थान खोजकर सभी ने विश्राम व्यवस्था बनाई और सुखपूर्वक रात्रि बिताई॥ ११५-१२०॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देव संस्कृति खंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
महर्षि नारद प्रतिपादिते 'हिमाद्रि हृदय प्रकरण' इति प्रकरणो नाम
॥ तृतीयोऽध्यायः॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः॥

अदृश्यलोक प्रकरण

पर्यवेक्षणजश्चाद्य प्रवासस्तु हिमालये।
चतुर्थं दिवसं प्राप्तः रहोन्वेषि मनीषिणाम्॥ १॥
मण्डलं नव्यज्ञातव्य-प्राप्तौ प्रतिदिनं तु तत्।
अगात्परममानन्दं जीवनोत्कर्षदायकम्॥ २॥
अग्रिमे दिवसे यच्च प्राप्यते ज्ञानमुत्तमम्।
प्रतीक्षा तस्य सर्वेषां हृदये तिष्ठति स्म सा॥ ३॥

पूर्वं चतुरता हेतोर्ब्राह्मकालादपि प्रियात्।
जाग्रति स्म समे प्रश्नान् कुर्वते लिखितान् बहून्॥ ४॥
उपलब्धं भवेद्येन सर्वेषामग्रिमे दिने।
समाधानं निजे ज्ञाने वृद्धिः स्याद् विपुला च सा॥ ५॥

टीका—हिमालय पर्यवेक्षण प्रवास का आज चौथा दिन था। रहस्यान्वेषी मनीषियों की मंडली नित-नई जानकारियाँ मिलने व जीवन में उत्कर्षता आने से बहुत प्रसन्न थी। अगले दिन जो जानने को मिलेगा उसकी प्रतीक्षा सभी के मन में रहती थी। सब लोग ब्राह्ममुहूर्त में पहले ही उठ बैठते और प्रश्नों की बड़ी संख्या एकत्रित कर लेते, ताकि अगले दिन उनका समाधान उपलब्ध हो सके व अपने-अपने ज्ञान में विशाल वृद्धि हो सके॥ १-५॥

समाप्ते पूर्व सन्ध्यादौ यथा पूर्वमिहाद्य च।
विज्ञः स समुदायस्तु नेतृत्वे नारदस्य तु॥ ६॥
पर्यवेक्षितुमत्रत्यां प्रकृतेः सम्पदं तथा।
क्षेत्रगौरवजं जातो रहस्यं ज्ञातुमुत्सुकः॥ ७॥
चर्मचक्षूंषि पश्यन्ति वस्तुनो बाह्यमेव तु।
स्वरूपं तस्य सत्ता सा महत्ता गरिमाऽपि च॥ ८॥
उपयोगित्वमप्येतच्छक्यन्ते ज्ञातुमुत्तमैः।
सूक्ष्मेणैव नरैः सर्वैः पर्यवेक्षणकेन तु॥ ९॥
अवलंबनमेतस्यास्तत्त्वदृष्टेश्च मंडलम्।
स्वीचकाराथ ज्ञातं च सर्ववस्तुगतं रहः॥ १०॥
नारदः स्वयमेवात्र प्रारब्धां कृतवांस्ततः।
चर्चां दिव्येन ज्ञानेन संपन्नः साधुसत्तमः॥ ११॥

टीका—नित्य की भाँति संध्यावंदन के उपरांत आज भी वह विज्ञ समुदाय नारद जी के नेतृत्व में प्रकृति संपदा का पर्यवेक्षण करने के साथ-साथ इस क्षेत्र की गरिमा के रहस्य जानना चाह रहा था। चर्मचक्षुओं से मात्र वस्तुओं के स्वरूप देखे जा सकते हैं, किंतु उसकी सत्ता, महत्ता, गरिमा एवं उपयोगिता समझनी हो तो सूक्ष्म पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है। मंडली को इसी तत्त्वदृष्टि का अवलंबन लेना पड़ रहा था। इसी से उन्होंने वस्तु मात्र के सारे रहस्यों को समझा। साधु-शिरोमणि दिव्य ज्ञानी नारद जी ने अपनी ओर से चर्चा आरंभ करते हुए कहा॥ ६-११ ॥

नारद उवाच—

दृश्यस्य जगतः पृष्ठभूमाविह तु वर्तते।
अदृश्यं जगदत्यर्थं क्षमं चास्याप्यपेक्षया॥ १२ ॥
जानन्तीदं च सर्वेऽपि प्राणादीनामभावतः।
अवकरत्वं शवत्वं च शरीरं याति सुंदरम्॥ १३ ॥
तुच्छं जानन्ति मृत्पिण्डं जनाः सर्वेऽपि केवलम्।
परमाणोस्तु विस्फोटे सामर्थ्यं ज्ञायतेऽतुलम्॥ १४ ॥
यद् व्याप्तमन्तरिक्षेऽत्रासीमिते तत्र केवलम्।
दृश्यन्ते ग्रहनक्षत्रप्रभृतीन्येव मानवैः ॥ १५ ॥

टीका—नारद जी बोले—दृश्य जगत के पीछे एक अदृश्य जगत है। परोक्ष की क्षमता तथा महत्ता प्रत्यक्ष की तुलना में कहीं अधिक है। दृश्य शरीर से, अदृश्य प्राण, आत्मा की सत्ता कितनी मूल्यवान है। प्राण न रहने पर काया मात्र कचरा शव बनकर रह जाती है, यह बात सभी जानते हैं। मिट्टी का ढेला तुच्छ है, किंतु उसके सब से छोटे अदृश्य घटक परमाणु की सामर्थ्य का पता विस्फोट होने

पर ही चलता है। असीम अंतरिक्ष में जो भरा है, उसमें से ग्रह-नक्षत्र जैसी कुछ ही वस्तुएँ दीखती हैं॥ १२-१५॥

वायु सम्पत्तिरेषा या भ्रमति प्राणदायिनी।
मूल्यमस्या भुवोऽपेक्ष्य मतं बह्वधिकं गुरु॥ १६॥
प्रकृतेश्च प्रवाहस्य तापशब्दप्रकाशजाः।
तरङ्गंद्रष्टुमेते न नेत्रैर्योग्याः कदाचन ॥ १७॥
परं विश्वस्य सर्वस्य चेष्टाया उद्गमास्तु ते।
मन्यन्ते समभूवंस्त आविष्काराः समेऽपि च॥ १८॥
वैज्ञानिका, रहस्येषु प्रकृतेर्बोधितेषु हि।
पूर्वाभासक्षमत्वं चाज्ञातज्ञाने क्षमोऽभवत्॥ १९॥
क्षमता भौतिकक्षेत्रसंभवा विस्मयान्विताः।
अध्यात्मपुरुषार्थेन लभ्या या सिद्धयस्तु ताः॥ २०॥

टीका—प्राणदायिनी वायुभूत संपदाएँ इतनी मँडराती रहती हैं कि मूल्यांकन करने पर वह पृथ्वी की तुलना में असंख्यों गुना भारी तथा मूल्यवान सिद्ध होती हैं। प्रकृति-प्रवाह के ताप, शब्द एवं प्रकाश की तरंगें नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होती, पर समस्त संसार की हलचलों का उद्गम उन्हीं को माना जाता है। उच्चस्तरीय वैज्ञानिक आविष्कार प्रकृति की रहस्यमयी क्षमताओं को जानने पर ही संभव हो सके हैं। अविज्ञात का पता लगाने में मनुष्य की पूर्वाभास क्षमता ने ही योगदान दिया है। भौतिक-क्षेत्र की जिन चकित करने वाली क्षमताओं को अध्यात्म पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त किया जाता है, उन्हें सिद्धियाँ कहते हैं॥ १६-२०॥

चेतनायाश्च प्रत्यक्षं कार्यमत्र तु विद्यते।
शरीरस्यानिवार्यत्वपूर्तिरिव ततश्च सा॥ २१॥

मनइंद्रियजन्यानामाकांक्षाणां कृते सदा।
यतते कर्तुमस्यैव चिन्तनस्य वशानुगा ॥ २२॥
परं बाह्याच्छरीराच्चेदंतर्द्रष्टुं क्षमं भवेत्।
संभवेत्तर्हि ज्ञातुं यच्छरीरे ग्रंथिषु क्वचित्॥ २३॥
विभिन्नेषु च चक्रेषु भाण्डागाराः सुपूरिताः।
विद्यन्ते दिव्य शक्तीनां विश्वबीजस्य चास्य तु॥ २४॥

टीका—चेतना का प्रत्यक्ष कार्य शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करना मात्र है। इंद्रियजन्य और मनोजन्य आकांक्षाओं के लिए ही वह चिंतक के चिंतनानुसार ताना-बाना बुनती रहती है, किंतु यदि बहिरंग कलेवर से भीतर झाँककर देखा जा सके तो प्रतीत होगा कि ब्रह्मांड वृक्ष के बीजस्वरूप मनुष्य के सूक्ष्मशरीर में चंद ग्रंथियों एवं विभिन्न चक्रों के रूप में दिव्यशक्तियों के भंडार भरे पड़े हैं॥ २१-२४॥

यथालब्धेस्तु तले दृश्ये दृश्यतेऽवकरः परम्।
मज्जद्भिर्गहने मर्त्यैः प्राप्यन्ते मणिसंपदः॥ २५॥
तथा शरीरे मर्त्यस्य विपुलास्तु विभूतयः।
एवं विधास्तु वर्तन्ते यासां भागेऽल्प एव तु॥ २६॥
जाते हस्तगते सिद्धः पुरुषो मन्यते जनः।
कार्यं तत्कुरुते यत्र सामान्यस्थितिसंभवम्॥ २७॥

टीका—जिस प्रकार समुद्र की ऊपरी सतह में कूड़ा-करकट भर दीखता है, किंतु गहरी डुबकी लगाने पर मणिमुक्तकों की बहुमूल्य संपदा हाथ लगती है, उसी प्रकार मानवी काया के अंतराल में ऐसी विभूतियाँ भरी पड़ी हैं, जिनका थोड़ा-सा भी भाग हस्तगत होने पर मनुष्य सिद्धपुरुष माना जाने लगता है और वह ऐसे काम

कर सकता है, जो सामान्य स्थिति में मनुष्य के लिए कभी संभव नहीं हो पाते ॥ २५-२७ ॥

प्रकृतेस्तु रहस्यानां बोधेनात्र तथैव च।
अज्ञातानां सुशक्तीनां प्राप्त्या हस्तगतानि तु॥ २८ ॥
साफल्यानि च विज्ञान-संभवानि हि संपदः।
उच्यन्ते पुरुषार्थेन नैवाढ्यः केवलं नरः॥ २९ ॥
प्रकृते रहस्ययुक्तानां शक्तीनां ज्ञातवानसौ।
उपयोगं समृद्धीनां ततोऽधिष्ठातृतामगात् ॥ ३० ॥
एतासामुपलब्धौ च तस्याऽदृश्यस्य दर्शकः।
विवेकः सहयोगित्वमगादत्र निरंतरम्॥ ३१ ॥
जागृतं कर्तुमेतं च साफल्यं यो गतो यथा।
भाग्यवान् स तथैवात्र जातो लोकेऽभिनन्दितः॥ ३२ ॥

टीका—प्रकृति के रहस्यों को जानने और अविज्ञात शक्तियों को हस्तगत करने से मनुष्य को जो वैज्ञानिक सफलताएँ हस्तगत हुई हैं, उन्हीं को संपदा कहते हैं। मात्र पुरुषार्थ से ही मनुष्य सुसंपन्न नहीं बना है। उसने प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों का उपयोग जाना और तदनुसार चित्र-विचित्र समृद्धियों का अधिष्ठाता बना है। इन उपलब्धियों में उसकी अदृश्यदर्शी सूझ-बूझ ही सहायक रही है। इसे जाग्रत करने में जो जितना सफल हो सका, वह उतना ही भाग्यवान बना है व लोक में सम्मान प्राप्त कर पाया है॥ २८-३२ ॥

स्थानान्यत्र हिमाद्रेः सोऽदर्शयत्तानि नारदः।
येषु चैतन्य सिन्धुं तु मथित्वा मूल्यवन्ति च॥ ३३ ॥
रत्नान्यादाय वासं स्वं स्वीचक्रुः सर्व एव च।
वैज्ञानिका महान्तस्ते प्रकृतिशक्तिपारगाः॥ ३४॥

तेषामेव प्रयासेन तानि सूक्ष्माणि भूतले।
प्रथमं हस्तगान्यत्र जातान्यथ यदाश्रिता॥ ३५॥
उपलब्धिरसामान्या पदार्थप्रकृत्योर्द्वयोः।
क्षेत्रयोरुभयोर्ब्रह्म चैतन्यस्यापि सन्ततम्॥ ३६॥

टीका—नारद जी ने हिमालय में स्थित ऐसे अनेकों स्थान दिखाए, जिनमें चेतना के महासमुद्र का मंथन कर के बहुमूल्य रत्न निकालने वाले प्रकृति शक्ति के पारखी महान वैज्ञानिकों का निवास रहा था। उनके प्रयास से वह सूत्र हस्तगत हुए थे, जिनके सहारे पदार्थ, प्रकृति और ब्रह्मचेतना के दोनों ही क्षेत्रों में असाधारण उपलब्धि बन पड़ी॥ ३३-३६॥

पर्यवेक्षणमेतत्तु प्रकृतेः सरलं तथा।
तस्या रहस्ययुक्तानि सर्वाण्यावरणानि च॥ ३७॥
बुद्धिमान् पुरुषस्तीक्ष्ण-विवेकस्य निजस्य तु।
आधारेणाधिगच्छन्ति परं क्षेत्रं तु तन्महत्॥ ३८॥
असीमितमनन्तं चागोचरं ह्यद्भुतं तथा।
चेतनायास्तु ब्राह्म्या याऽवगाह्या प्रज्ञयैव तु॥ ३९॥
अध्यात्मक्षेत्र-विज्ञान-पंडिता अवगाहनम्।
कुर्वते त्रिविधानां तु क्षेत्राणां सन्ततं भृशम्॥ ४०॥
श्रद्धाप्रज्ञासु निष्ठानां जायन्तेऽपि ततः समे।
देवमानवगानां च भूतीनां निधयः स्वयम्॥ ४१॥

टीका—प्रकृति का पर्यवेक्षण सरल है। उसकी रहस्यमयी परतों को बुद्धिमान व्यक्ति अपनी पैनी सूझ-बूझ के आधार पर प्राप्त कर लेते हैं, किंतु ब्राह्मीचेतना का क्षेत्र तो असीम, अनंत, अद्भुत एवं अगोचर हैं, उसका अवगाहन महाप्रज्ञा द्वारा ही संभव है। अध्यात्मविज्ञानी श्रद्धा,

प्रज्ञा और निष्ठा के त्रिविध-क्षेत्रों का अवगाहन करते हैं और देवमानव स्तर के विभूतिवान बनते हैं॥ ३७-४१ ॥

नारदोऽदर्शयद्दिव्यदर्शिनां स्तरगामिनाम् ।
ब्रह्मज्ञानां तु सिद्धानां स्थानान्यत्र निवासिनाम् ॥४२॥
कथं ते किमकार्षुश्च व्यधाद् व्याख्यामिमां स्फुटम्।
अवोचच्च दिनेष्वेवं तेषु चात्मविदस्तु ते ॥४३॥
भूमेर्गौरवमस्यास्तु वर्द्धयन्ति स्म संततम् ।
सत्पात्रेभ्यो ददत्येव विद्यां तां लोकमगंलाम्॥ ४४॥
निगमागमनाम्नाऽथ योगतंत्रेति वा पुनः ।
रहोविभूतयस्त्वे ता प्रसिद्धानि महीतले ॥४५॥

टीका—नारद जी ने इस स्तर के दिव्यदर्शी ब्रह्मपरायण महासिद्धों के अनेक निवास स्थान दिखाए। उनने किस प्रकार क्या किया? इसका विवरण सुनाया और कहा कि उन दिनों आत्मविज्ञानी इस भूमि की गरिमा अपनी विभूतियों के आधार पर बढ़ते थे, सत्पात्रों को उस विद्या की शिक्षा देते थे। 'आगम' और 'निगम' 'योग' और 'तंत्र' इन्हीं रहस्यमयी विभूतियों के नाम हैं॥ ४२-४५॥

संबोधयन् स जिज्ञासून् यथापूर्वं विवेचनम्।
व्यधात्प्रारब्धमेवैतत्प्रकृतिज्ञान-बोधकम् ॥४६॥
प्रत्यक्षं जगादेषोऽत्र भूलोको दृश्य एव यः।
इंद्रियग्राह्य एवं चानेके लोकास्तथापरे॥४७॥
परलोका निगद्यन्ते वासा ये चाशरीरिणाम्।
त्रिलोक्यन्तर्गताः सर्वे स्थूल दृष्टेरगोचराः ॥४८॥

जन्ममृत्योरन्तरे च तत्रात्मानो वसन्ति तु।
तेषामेव विभागौ च नरकः स्वर्ग एव च॥ ४९॥

टीका—जिज्ञासुओं को संबोधित करते हुए देवर्षि नारद ने प्रकृति ज्ञान के बोधक अपने विवेचन को जारी रखते हुए फिर कहा। प्रत्यक्ष जगत भूलोक है। यह दृश्यमान और इंद्रियगम्य है। ऐसे ही अन्य अनेक लोक हैं, जिन्हें परलोक कहते हैं। इसमें अशरीरी आत्माओं का निवास है। ये त्रिलोकी के अंदर ही है, जो स्थूल दृष्टि से आग्राह्य है। जन्म और मरण के मध्यांतर में आत्माएँ इन्हीं में से किसी में रहती हैं। स्वर्ग-नरक उन्हीं के विभाजन हैं। ४६-४९॥

आत्मानः केचनात्रैव भाविकार्यविधेरथ।
निर्धारण-प्रतीक्षायां विश्रमन्ति निरंतरम्॥ ५०॥
परिकरत्वे विशिष्टे च नियन्तुः सन्ति केचन।
प्रयोजनेभ्य एवाति विशिष्टेभ्यः सुरक्षिताः॥ ५१॥
जीवन्मुक्ता इमे सर्वेऽप्युच्यन्ते देववर्गगाः।
आत्मानः सृष्टि-संस्थायामदृश्याः सन्ति संरताः॥ ५२॥
सत्पात्राण्यभियान्त्येते साहाय्यार्थमयाचिताः।
दुष्टतां च पराजेतुं तेषां योगस्तु विद्यते॥ ५३॥
शरीरिणामिवैतेषां कार्याण्यत्राशरीरिणाम्।
भवन्ति सत्ता सूक्ष्मा च सामान्यानामपेक्षया॥ ५४॥
नृणामधिकसामर्थ्यमुक्ता सा द्रुतगामिनी।
व्यापिकाऽस्ति लभन्ते च नरा एभिः सहायताम्॥ ५५॥
पूर्वाभासमनेके च लभन्ते च नरा इह।
मुच्यन्ते संकटेभ्यश्च तथोत्कर्षं भजन्त्यपि॥ ५६॥

टीका—कुछ आत्माएँ भावी कार्य निर्धारण की प्रतीक्षा में विश्राम करती रहती हैं। कुछ नियंता के विशिष्ट परिकर में, विशिष्ट प्रयोजनों के लिए सुरक्षित रहती हैं, इन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। देवता वर्ग की आत्माएँ सृष्टि के सुसंचालन में अदृश्य रूप से संलग्न रहती हैं। सत्पात्रों के पास अयाचित् सहायता के लिए दौड़ जाती हैं। दुष्टता को परास्त करने में भी उनका योगदान रहता है। अशरीरी होते हुए भी इनके क्रिया-कलाप शरीरधारियों जैसे होते हैं। इनकी सूक्ष्मसत्ता सामान्य मनुष्यों से अधिक सशक्त, द्रुतगामी एवं व्यापक होती है। मनुष्यों की पात्रता के अनुरूप उनका अविज्ञात सहयोग मिलता रहता है। कितनों को ही वे ऐसे पूर्वाभास कराती हैं, जिससे संकट से बचा जा सके और उत्कर्ष का अप्रत्याशित सुयोग मिल सके॥ ५०-५६॥

भूलोकेन सम्बद्धं प्रकृतेरेकमस्ति तत्।
प्रतिविश्वं च लोकाद् यद् विपरीतं हि विद्यते॥ ५७॥
प्रतिगामिभिरेवादः पदार्थैरिव संभृतम्।
द्वयोः समन्वयेनैव सृष्टिसन्तुलनं स्थितम्॥ ५८॥
छिद्रमस्यां व्यवस्थायां यदि सञ्जायते क्वचित्।
भवेद् विपर्ययः कोऽपि प्रलयो वा लघुर्महान्॥ ५९॥
ईदृश्यः स्थितयः प्रायो जायन्ते मानवैर्यदि।
गृह्यन्तेऽभीप्सिता लोके विधयः प्राणिकष्टदा॥ ६०॥

टीका—इस भूलोक से सटा हुआ एक विपरीत प्रकृति का प्रति विश्व भी है। उसमें प्रति पदार्थ भरा है। दोनों के समन्वय से सृष्टि संतुलन बना है। यदि इस व्यवस्था में कहीं छिद्र पड़ जाए या विपर्यय चल पड़े तो फिर समझना चाहिए कि महाप्रलय या खंड प्रलय जैसा संकट आ खड़ा होगा। ऐसी विपत्ति भरी परिस्थितियाँ मनुष्यों द्वारा

अपनाई गई अवांछनीय प्राणिमात्र विरोधी गतिविधियों द्वारा उत्पन्न होती हैं ॥ ५७-६० ॥

महत्त्वं सम्पदः सर्वे जानन्त्येव नरास्तथा।
वपुःशक्तिं बुद्धिशक्तिं शस्त्रशक्तिं तथैव च ॥ ६१ ॥
संघशक्तिं विजानन्ति मानवाः सर्व एव च।
आत्मशक्तिस्तु सर्वेभ्यः श्रेष्ठा प्रोक्ता बुधैरिह ॥ ६२
तयाधिपत्यं लोकेऽस्मिन् प्रकृतौ कर्तुमञ्जसा।
संभवेच्चेतनस्यात्र स्तर एतादृशश्च सः ॥ ६३ ॥
परिष्कृतो विधातुं च संभवोऽस्ति यतः स्वयम्।
स हि स्रष्टेव स्यात्सर्वशक्तिमानात्मभूर्विभुः ॥ ६४ ॥
प्रसुप्तं जाग्रतं कर्तुं विधिर्यः साधनाऽस्ति सा।
मानवो निर्मितः स्रष्ट्रा युवराजो निजो महान् ॥ ६५ ॥
दायित्वं तच्च निर्वोढुं शक्तिस्तु विपुलाऽपि सा।
बीजरूपे प्रदत्तां यां कुर्यात्सुफलितां नरः ॥ ६६ ॥

टीका—संपदा का महत्त्व सभी जानते हैं। शरीरबल, बुद्धिबल, शस्त्रबल, संघबल आदि से भी सब परिचित हैं। इन सबसे बड़ा आत्मबल है। उसके द्वारा प्रकृति पर आधिपत्य पाया जा सकता है और चेतना को इस स्तर तक परिष्कृत किया जा सकता है कि वह स्रष्टा की भाँति सर्वशक्तिमान स्वयंभू बन सके। प्रसुप्त को जाग्रत करने की विधा को ही साधना कहते हैं। मनुष्य को स्रष्टा ने अपना महान उत्तराधिकारी युवराज बनाया है और उस उत्तरदायित्व का भली प्रकार निर्वाह कर सकने जैसा शक्ति भंडार उसे बीजरूप में प्रदान किया है। उसे अंकुरित और फलित करना मनुष्य का काम है ॥ ६१-६६ ॥

सीमितं दृश्यपर्यन्तं यत्तत्तुच्छं तु वर्तते।
अदृश्यविस्तरं यस्तु वैभवं ज्ञातवानुत ॥ ६७ ॥
प्रविष्टस्तत्र तस्माच्च भांडागाराद्गृहीतवान्।
किञ्चित्स ज्ञायतां जातो महान्नैवात्र संशयः ॥ ६८ ॥
महत्ता प्राप्तये दृष्टिरुदात्ता हृदयं महत्।
विश्वासः साहसं गन्तुमपेक्ष्यन्तेऽपि चैकतः ॥ ६९ ॥
महामानवसंज्ञानां चिन्तनं चरितं महत्।
तथैव व्यवहारश्च निर्धारणमथापि वा ॥ ७० ॥
तत्स्तरं स्पृशति प्रोच्चं महत्तायां तु न्यक्कृतम्।
सम्पन्नत्वं भवेदेव श्रेष्ठा सा भुवि सर्वतः ॥ ७१ ॥

टीका—जो दृश्य तक सीमित है, वह तुच्छ है। जिसने अदृश्य का विस्तार वैभव समझा, उस क्षेत्र में प्रवेश किया, उस भंडार में से कुछ समेटा-बटोरा, समझना चाहिए वह महान बन गया। महानता की प्राप्ति के लिए उदात्त दृष्टिकोण, विशाल हृदय और एकाकी चल पड़ने योग्य साहस तथा विश्वास चाहिए। महामानवों का चिंतन, चरित्र, व्यवहार, रुझान, निर्धारण इसी स्तर का होता है। महानता पर संपन्नता को निछावर किया जा सकता है। महानता सर्वश्रेष्ठ है ॥ ६७-७१ ॥

आदौ शब्दः समुत्पन्नः सृष्टेरस्या महानयम्।
ततस्तयोश्च संहत्या लोके ताप-प्रकाशयोः ॥ ७२ ॥
शक्तिस्रोतांसि जातानि विविधानि ततोऽभितः।
पञ्चप्राणादयः पञ्चतत्त्वान्युत्पन्नतां ययुः ॥ ७३ ॥
सृष्टिरेषा समुत्पन्ना तेषां योगेन विस्तृता।
मूलं प्रकृतेः शब्दोऽस्ति य ओंकार इहोदितः ॥ ७४ ॥

स्रष्टुरिच्छानुसारं च बहुधा भवितुं स्वतः।
ध्वनिप्रवाहरूपेऽग्रे वैखरीं समुपागतः ॥ ७५ ॥
नादशब्दौ बुधा यच्च ब्रह्मलोके वदन्ति ते।
सर्वोपरि च सामर्थ्यमेतस्यास्ति महत्त्वगम् ॥ ७६ ॥

टीका—सृष्टि के आदि में शब्द उत्पन्न हुआ। उससे ताप और प्रकाश की संहति से शक्ति के कितने ही स्रोत उमड़े और पाँच प्राण तथा पंचतत्त्व विनिर्मित हुए। समस्त सृष्टि उन्हीं के सहयोग-समन्वय से उत्पन्न हुई है। प्रकृति का मूल 'शब्द' है। स्रष्टा की इच्छाशक्ति जब एक से बहुत बनने के लिए अग्रसर हुई तो सर्वप्रथम उसका प्रकटीकरण 'ओंकार' शब्द के ध्वनि-प्रवाह में वैखरी रूप से परिलक्षित हुआ। यह शब्द ही 'नादब्रह्म' और 'शब्दब्रह्म' है। उसकी सामर्थ्य सर्वोपरि है ॥ ७२-७६ ॥

जीविताः प्राणिनस्तस्य सहयोगेन भावनाः।
स्वकीया व्यञ्जयन्त्यत्र सहयोगस्य संततम् ॥ ७७ ॥
मार्गं प्रशस्तं कुर्वन्ति दानादानगतं तथा।
व्यष्टेरथ समष्टेश्च गतौ वा प्रगतावपि ॥ ७८ ॥
शब्दस्य योगदानं तदति सर्वं हि मन्यते।
ज्ञानविज्ञानयोस्तारतम्यं चलति तच्छ्रुतम् ॥ ७९ ॥

टीका—जीवित प्राणी इसी के आधार पर अपनी भावनाएँ व्यक्त करते और सहयोग का आदान-प्रदान का पथप्रशस्त करते हैं। समष्टि और व्यष्टि की सामान्य गति और विशेष प्रगति में शब्द का योगदान सर्वोपरि माना जाता है। ज्ञान और विज्ञान का तारतम्य उसी के सहारे चल रहा है ॥ ७७-७९ ॥

ऋषयो नादब्रह्माथ शब्दब्रह्माप्युपास्य वा।
विभूतीरर्जयामासुरध्यात्म-क्षेत्रजा भृशाः ॥ ८० ॥
सामर्थ्यमिदमाश्रित्य विश्वकल्याणगं तथा।
आत्मकल्याणगं चेमे प्रशस्तां पद्धतिं व्यधुः ॥ ८१ ॥
ज्ञानचर्चा विधावत्र सत्संगेऽथ प्रशिक्षणे।
उच्चारणं यदस्त्येतच्छब्द-ब्रह्मेदमुच्यते ॥ ८२ ॥
नामरूपाश्रितं ध्यानं क्रियते स्वरतालगः।
ध्वनिप्रवाह एवात्र नादयोगोऽभिधीयते ॥ ८३ ॥
उपयुञ्जत एनं च विकासेऽन्तर्गते बुधाः।
तत्त्वदर्शिन आत्मज्ञाः प्रकृतिज्ञान पारगाः ॥ ८४ ॥

टीका—ऋषियों ने 'शब्दब्रह्म' और 'नादब्रह्म' की उपासना से अध्यात्म-क्षेत्र की अनेकानेक विभूतियाँ अर्जित की। उस सामर्थ्य के सहारे आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का पथप्रशस्त किया। ज्ञानचर्चा, सत्संग और प्रशिक्षण की विधा में उच्चारण का प्रयोग होता है। यह शब्दब्रह्म है। ध्यान में नाम, रूप का आश्रय लिया जाता है। स्वर-तालबद्ध ध्वनि- प्रवाह को नादयोग कहते हैं। आंतरिक विकास में उसका उपयोग प्रकृति विज्ञान के पारखी आत्मज्ञ तत्त्वदर्शी किया करते हैं ॥ ८०-८४ ॥

परिष्कृतेन चित्तेन चरित्रेणाथ मानवाः ।
परिष्कृताभ्यामाहार-विहाराभ्यां च सर्वदा ॥ ८५ ॥
पाठेनाथ जपेनापि स्वर-साधनया पुनः।
कुर्वते मंत्रसिद्धिं च विश्वकल्याण-कारिकाम् ॥ ८६ ॥

अस्त्यसाधारण-शक्तिर्मन्त्रे यस्य प्रभावतः ।
स्थितिर्वातावृतिर्व्यक्तिः परिवर्तन्त एव तु ॥८७॥
मंत्रसिद्धिरथैषा च वाक्सिद्धिर्नापरामता ।
भौतिकाध्यात्मकार्याणि यया सिद्ध्यान्ति चाञ्जसा॥८८॥

टीका—परिष्कृत अंतःकरण परिष्कृत चरित्र और परिष्कृत आहार-विहार वाले मनुष्य जप, पाठ और स्वर- साधना द्वारा विश्वकल्याण कारक मंत्र सिद्धि करते हैं। मंत्र में असाधारण शक्ति है। उसके प्रभाव से व्यक्ति, परिस्थिति और वातावरण को बदला जाता है। वाक् सिद्धि और मंत्र सिद्धि एक ही बात है। उससे भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों के अनेकानेक प्रयोजन सिद्ध होते हैं॥ ८५-८८॥

वाचः सिद्धिः कृता यैस्तु शापैरथ वरैर्निजैः।
तैः समर्थं विधातुं तद्धर्मं दूरयितुं तथा ॥८९॥
अधर्मं भूमिका दिव्या निरूढा संयतात्मभिः।
मंत्रशक्त्युपयोगोऽस्ति धर्मकृत्येषु स महान्॥९०॥
तस्मादेव च हेतोस्तु फलन्त्येतानि पूर्णतः।
अन्यथा यज्ञपूजादिस्तुतयः सामगीतयः ॥९१॥
नैव महत्त्वमायान्ति यथोक्तं तु पदे पदे।
मंत्रे महत्ता या गीता शब्दोच्चारणजा बुधैः॥९२॥
विधिश्रिता ततो वक्तुर्व्यक्तित्वस्याधिका मता।
साधकैः संयमोऽपेक्ष्यः कर्मकांड-गतैरपि॥९३॥
सीमितं सुविचार्यैव वक्तुमभ्यास इष्यते ।
आहारसंयमश्चास्य कृते प्रोक्तोऽनिवार्यतः ॥९४॥

संयतस्य च वागेषा रामबाण इव स्वतः।
लक्ष्यं विध्यति यंत्रेभ्योऽधिका शक्तिश्च मंत्रजा॥ ९५॥
ऋषिष्वनेके निष्णाता मंत्रविद्या विधाविह।
साधनायाः स्थलान्येष दर्शयामास मंडलम्॥ ९६॥

टीका—जिनने वाणी सिद्ध की थी, आत्मसंयमी उनने अपने शाप-वरदान से धर्म को समर्थ बनाने और अधर्म को निरस्त करने की महती भूमिका संपन्न की। धर्मानुष्ठानों में मंत्रशक्ति का असाधारण उपयोग है। उन्हीं के कारण वे फलित होते हैं अन्यथा यज्ञ, पूजा, उपचार, स्तवन, सामगान आदि का वैसा महत्त्व नहीं रहता जैसा कि बताया गया है। मंत्र में विधिवत् शब्दोच्चार की जितनी महत्ता है, उससे भी अधिक उच्चारणकर्त्ता के व्यक्तित्व की है। मंत्रसाधक को मंत्र-साधना के लिए उच्चारणपरक कर्मकांडों की तरह वाक् संयम भी अपनाना होता है। वचन सीमित और सोच-समझकर बोलने का अभ्यास करना होता है। इस प्रयोजन के लिए आहार संयम नितांत आवश्यक है। संयमी की वाणी ही रामवाण की तरह लक्ष्य वेधती है। यंत्रों से भी बड़ी शक्ति मंत्रों में मानी गई है। ऋषियों में से अनेक मंत्रविद्या के निष्णात थे। उनके अनेक साधना स्थल इस मंडली को नारद जी ने दिखाए॥ ८९-९६॥

ऊषुरत्रमहामर्त्याः कियन्तो जगतश्च किम्।
हितमेभिः कृतं लोकेऽनुसंधानैरुपार्जनैः॥ ९७॥
इति विस्तरशः प्रोक्तं नारदेन महर्षिणा।
यतः स पूर्वमेभिस्तु संगतोऽनेकशो मुनिः॥ ९८॥
शृण्वन्तः सर्व एवात्र मंडलस्था व्यचारयन्।
परंपराः पुराणास्ता नव्यकालानुरूपतः॥ ९९॥

नवीनेन प्रकारेण कर्तुं सर्वांश्च जीवितान्।
पुरुषार्थस्तथाऽस्माभिः कार्य आर्षो यथा ह्यभूत्॥ १०० ॥
स्वयं धन्यास्तु ते जाता गौरवं च हिमालयः।
देवात्मनो गतस्तेषां कृपया गौरवेण च ॥ १०१ ॥

टीका—हिमालय के क्षेत्र में कितने महामानवों ने निवास किया और उनके अनुसंधानों-उपार्जनों ने संसार का क्या-क्या हितसाधन किया इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया, चूँकि वह उनसे अनेक बार पहले मिले थे। श्रवण करते हुए उस यात्रा मंडली में से प्रत्येक ने सोचा उन पुरातन परंपराओं को नए समय के अनुरूप नए सिरे से जीवंत करने के लिए हमें वैसा ही पुरुषार्थ करना चाहिए, जैसा कि पुरातनकाल के ऋषियों ने किया। वे स्वयं धन्य हुए और हिमालय को देवात्मा कहे जाने का गौरव दिलाया॥ ९७-१०१ ॥

यात्रा पूर्णा यथापूर्वमद्य सोत्साहमुत्तमा।
अतिवाहयितुं रात्रियोग्यमन्वेषितं स्थलम्॥ १०२ ॥
कंदमूलानि मार्गेषु यान्याप्तानि मुनीश्वरैः।
खादित्वा कृतसन्ध्यैश्च शयितं सुखपूर्वकम्॥ १०३ ॥

टीका—आज भी कल की ही तरह यात्रा अतीव उत्साह के साथ पूर्ण हुई। रात्रि बिताने के लिए उपयुक्त स्थान खोज निकाला गया। रास्ते में जहाँ-तहाँ से कंदमूल लोग समेटते गए थे। संध्या-वंदन कर के उसी से पेट भरे और संतोषपूर्वक शयन किया॥ १०२-१०३ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देव संस्कृति खंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,

'अदृश्यलोक प्रकरण' इति प्रकरणो नाम

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

यज्ञ विज्ञान-वनस्पति विज्ञान प्रकरण

पञ्चमो दिवसोऽद्याभूत्प्रवासस्य हिमालये।
हिमालयरहस्यानि देवर्षेर्मार्गदर्शने ॥ १ ॥
मण्डलं ब्रह्मवेतणामृषीणां पर्यवेक्षणम्।
विदधत्क्षेत्रयात्राया आनन्दं परमं ययुः ॥ २ ॥
दृश्यं नेत्रैस्तु संदृष्टं केवलं कौतुकं नृणाम्।
समाधत्ते परं तेन भावनाश्च विचारणाः ॥ ३ ॥
संयुज्यन्ते सदा दिव्यदर्शनं तत्तदोच्यते ।
संक्षिप्तं नाम चास्यैव दर्शनं सन्निगद्यते ॥ ४ ॥
ऋषीणां देवमूर्तीनां दर्शनस्यैवमेव हि ।
माहात्म्यं कथितं लोके विद्वद्भिस्तत्त्व पारगैः ॥ ५ ॥
अन्यथा नयनैर्मात्रमाकृतिर्दृश्यते तु सा ।
छविस्मरण-मात्रस्य सिद्ध्यत्यत्र प्रयोजनम् ॥ ६ ॥
प्रेरणा प्राप्तये त्वत्र नूनमावश्यकं मतम् ।
दृश्यानां गौरवं चोच्चस्तराणां तु रहस्यगम्॥ ७ ॥
ज्ञायेतैभिश्च तादात्म्य भावनास्याच्च निर्मिता।
अतो न्यूनेन सिद्धं स्यादृर्शनस्य प्रयोजनम्॥ ८ ॥

टीका—आज प्रवास का पंचम दिन था। देवर्षि नारद के मार्गदर्शन में हिमालय के रहस्यों का पर्यवेक्षण करती हुई ब्रह्मवेत्ताओं की मंडली उस क्षेत्र के पर्यटन का आनंद ले रही थी। मात्र नेत्रों से देखा गया दृश्य तो मात्र कुतूहल का समाधान करता है। उसके साथ जब

विचारणाएँ व भावनाएँ जुड़ जाती हैं, तब उसे दिव्य दर्शन कहते हैं। इसी का संक्षिप्त नाम 'दर्शन' है। देवप्रतिमाओं एवं ऋषियों का ऐसा ही दर्शन करने का माहात्म्य तत्त्वज्ञ विद्वानों ने कहा है। अन्यथा आँखों से देखने पर तो आकृति भर दीखती है। उससे तो छवि स्मरण आने जितना ही प्रयोजन भर सधता है। प्रेरणा प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उच्चस्तरीय दृश्यमानों की रहस्यमयी गरिमा समझी जाए और साथ ही उसके साथ तादात्म्य होने की भावना बनाई जाए। इससे कम में दर्शन का महान प्रयोजन सधता नहीं॥ १-८॥

मनीषिमण्डलं तच्च रहस्यं नारदो मुनिः।
बोधयँस्तदृषीणां च स्थानान्येवं क्रिया अपि॥ ९॥
दर्शयन्नग्रतोऽगात्स येषां हेतोर्हिमालयः।
जडोऽपि जातः श्रद्धेयो देवश्चैतन्य सम्भृतः॥ १०॥

टीका—नारद जी मनीषि मंडल को यह रहस्य बताते हुए उन ऋषियों के स्थानों एवं क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराते चल रहे थे; जिनके कारण हिमालय का जड़ दीखने वाला क्षेत्र चैतन्य देवता जैसा श्रद्धास्पद एवं सामर्थ्यवान बना॥ ९-१०॥

पञ्चमे दिवसे चाद्य दर्शयामास नारदः।
कार्यक्षेत्राणि सर्वेषामृषीणां यत्र संततम्॥ ११॥
अनुसंधानकर्मैषां वनस्पति-विधावगात्।
शारीरं मानुषं चास्ति वनस्पतिसमुद्भवम्॥ १२॥
मांसपिण्डमिदं सर्वे वदन्त्येव तथैव च।
मांसं रूपान्तरं नूनमाहारस्यैव वर्तते ॥ १३॥

आहारो जीवनस्योक्तं प्रमुखं साधनं तथा।
आहारस्यानुकूलश्च वपुश्चित्तस्तरो भवेत्॥ १४॥
यत्स्तरं वपुरिष्टं स्यात्तथाऽऽहार-व्यवस्थितिः।
विधातव्या तथा येषां विशेषरससंभृताम् ॥ १५॥
पदार्थानामिहाधिक्यान्न्यूनतायाश्च कारणात्।
कायसन्तुलनं नृणां प्रायस्तद् व्यतिगच्छति॥ १६॥
तत्पूर्तयेऽनुरूपेण शुद्धाहारेण, तद् भवेत्।
परिवर्तनमप्यत्र परिवर्द्धनमुत्तमम् ॥ १७॥

टीका—आज पाँचवें दिन नारद जी ने उन ऋषियों के कार्यक्षेत्र दिखाए, जिनमें वनस्पतियों के संबंध में उनका अनुसंधान कार्य चला था। मनुष्य शरीर भी वनस्पतियों की ही उत्पत्ति है। उसे मांसपिंड कहा जाता है और मांसाहार का ही रूपांतरण है। आहार को जीवन का प्रमुख साधन कहा गया है। शरीर और मन का स्तर वैसा ही बनता है, जैसा आहार ग्रहण किया जाता है। अस्तु, जिस स्तर का भी उन्हें बनाना अभीष्ट हो, वैसे ही आहार का प्रबंध करना चाहिए। जिन रासायनिक पदार्थों की न्यूनाधिकता से काय संतुलन प्रायः गड़बड़ाता है, उनकी पूर्ति के लिए तदनुरूप आहार से परिवर्तन अभिवर्द्धन किया जाना चाहिए॥ ११-१७॥

विद्या त्वाहार संबद्धा मानवोत्कर्षबोधकम्।
अंगजीवनविज्ञानसम्बद्धं तु महत्त्वगम्॥ १८॥
ऋषिभिश्चात्रसन्दर्भे त्वनुसन्धितमुत्तमम्।
गहनं प्रस्तुतं यच्च सर्वसाधारणस्य तत्॥ १९॥
सम्मुखे व्रतचर्चाभिः खाद्याखाद्य विवेचनैः।
अयं विधिस्तु यैर्मर्त्यैः स्वीकृतो दीर्घजीविनः॥ २०॥

नीरोगा अपि ते जाता उपयोगं व्यधुः शुभम्।
स्वास्थ्यसम्पद आप्ताया स्थितिस्तेषां तथेदृशी॥ २१॥

टीका—आहार विद्या जीवन विज्ञान का मानवोत्कर्ष बोधक अति महत्त्वपूर्ण अंग है। ऋषियों ने इस संदर्भ में गहरी खोजें कीं और सर्वसाधारण के सम्मुख व्रतों व औषधियों व खाद्याखाद्य विवेचनों के रूप में प्रस्तुत कीं। यह विधान अनुशासन जिनने सीखा अपनाया, वे नीरोग रहे, दीर्घ जीवी बने और उपलब्ध स्वास्थ्य संपदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग कर सकने की परिस्थितियों में रहे॥ १८-२१॥

यदा स्वास्थ्य-विधेरत्र व्यतिगामितया नरः।
आधिव्याधिभिराक्रांतो जायतेऽत्र तदा सदा॥ २२॥
असन्तुलनमत्रैतत्कर्तुं सन्तुलनस्थितम्।
औषधीनां तु वन्यानामाश्रयो गृह्यते नरैः॥ २३॥
उचितः सरलश्चैष चिकित्साधार उत्तमः।
विधिष्वन्येषु लाभोऽल्पो हानिश्च विपुला मता॥ २४॥
चरकः सुश्रुतश्चक्रदत्तः शाङ्र्गंधरस्तथा।
वाग्भट्टः स तथैवान्ये तत्त्वज्ञान विदाश्चिरम्॥ २५॥
अन्विष्य गहनं वन्याः सर्वेऽप्यौषधयस्तु तैः।
अन्वेषिताः शरीरस्य मनसो ये च कुर्वते॥ २६॥
असन्तुलनमत्रैतत्पूर्णतः सुव्यवस्थितम्।
विषाक्तत्वं विजातीय द्रव्यजं सारयन्त्यलम्॥ २७॥
तत्त्वानां न्यूनता येषां जायते पूरयन्ति तत्।
क्षेत्रजानां क्षेत्रजानि वस्तून्यनुगतान्यलम्॥ २८॥

स्वकीयक्षेत्रसम्भूता वनौषधय उत्तमाः ।
खाद्याः पदार्थाः सर्वेषामुपयोगाय सम्मताः ॥ २९ ॥

टीका—जब भी स्वास्थ्य अनुशासन के व्यतिरेक से आधि-व्याधियों में उलझना पड़ता है, तब उस असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए वनौषधियों का आश्रय लिया जाता है। चिकित्सा का यही सरल और सही आधार है। अन्य उपाय अपनाने पर लाभ कम और हानि अधिक है। चरक, सुश्रूत, वागभट्ट, चक्रदत्त, शार्गंधर आदि तत्त्वज्ञानियों ने लंबे समय तक गहरी खोजें की और उन वनौषधियों को खोज निकाला जो शारीरिक और मानसिक असंतुलन को ठीक करती है, विजातीय द्रव्यों की विषाक्तता को निकाल फेंकती हैं। जिन तत्त्वों की कमी पड़ जाती है, उनकी पूर्ति करती हैं। जो प्राणी जिस क्षेत्र में जन्मते हैं, उन्हीं वहीं की उपजी हुई खाद्य वस्तुएँ अनुकूल पड़ती हैं। अस्तु, यथासंभव अपने क्षेत्र में उत्पन्न हुए खाद्य पदार्थों और वनौषधियों के उपयोग का विधान है॥ २२-२९ ॥

एकस्मिन् समये चैकं पदार्थं लब्धुमामतम्।
हितकारकमत्यर्थं बहूनां मिश्रणेन तु ॥ ३० ॥
मौलिकास्ते गुणास्तेषां समेषां व्यतियान्त्यपि।
तत्तत्खाद्यैरपेक्ष्यं च लाभं नाप्तुं नरोऽर्हति ॥ ३१ ॥
आहारकल्पे चैकस्य वस्तुनः सेवनं मतम्।
औषधीनां च सम्बन्धे व्यवस्थैषैव वर्तते ॥ ३२ ॥
सम्मिश्रणं यथान्यूनं भवेत्तत्तु तथोत्तमम्।
रक्षितं मौलिकत्वं स्याद् वर्गाणां प्रायशो यथा॥ ३३ ॥
सम्मिश्रण समुत्पन्नं संकरत्वं यदस्ति तत्।
आकर्षकं तथोत्तेजकमारंभे प्रतीयते ॥ ३४॥

परं कालान्तरे हानिरस्मात्संजायते तु सा।
अनुभवस्य च सारोऽयं वनस्पतिविदामिह ॥ ३५ ॥
प्रवासाभिरतं विद्वन्मंडलं पर्यवेक्षणम् ।
कुर्वद् भिन्नेषु भागेषु रहस्यं त्वध्यगादिदम् ॥ ३६ ॥
ततोलाभमवाप्तुं तमन्येभ्यो दातुमप्यलम् ।
निश्चयं कृतवन्तस्ते मंडलस्थाः समेऽपि तु ॥ ३७ ॥

टीका—एक बार में एक ही पदार्थ लेना अधिक हितकर है। कइयों को मिला देने से उस सम्मिश्रण से सभी के मौलिक गुण बदल जाते हैं और जिस खाद्य से जो लाभ मिलने की अपेक्षा की गई थी वह मिल नहीं पाता। अस्तु, आहार कल्प विधान में एक ही वस्तु का सेवन कराया जाता है। यही बात औषधियों के संबंध में भी है। सम्मिश्रण से जितना बचा जा सके उत्तम है। हर वर्ग की मौलिकता बनी रहनी चाहिए। मिश्रण से जो संकरत्व होता है, वह आरंभ में ही आकर्षक उत्तेजक लगता है। कालांतर में उससे हानि ही होती है। यही है वनस्पतिविज्ञानी ऋषियों के अनुभवों का सार-संक्षेप। प्रवासरत विद्वान मंडली ने विभिन्न क्षेत्रों का पर्यवेक्षण करते हुए इस रहस्य को भली प्रकार समझा और उससे लाभ प्राप्त करने तथा कराते रहने का निश्चय किया॥ ३०-३७॥

सन्दर्भेऽस्मिन् स देवर्षिः पक्षं प्राबोधयत्वलम्।
वानस्पत्यस्य विज्ञानस्यास्ति यः सूक्ष्मशक्तिगः ॥ ३८ ॥
असन्तुलतः सूक्ष्मशरीरस्यास्ति रक्षणम् ।
पदार्थस्य स्वरूपं तत्कठोरं द्रवमप्यलम् ॥ ३९ ॥
नेत्रैर्द्रष्टुं भवेच्छक्यं वायुभूतं तृतीयकम् ।
नैवाक्षिगोचरं सूक्ष्मं महाप्राणं महाबलम् ॥ ४० ॥

जलं हिमस्य रूपे तु कठोरं दृश्यते तथा।
प्रवाहे द्रवरूपं च वायुभूतं तु वाष्पके॥ ४१॥
प्रत्येकस्मिन् पदार्थे च स्थितिरैषैव विद्यते।
नात्र नश्यति किञ्चित्तु केवलं परिवर्तते॥ ४२॥
गुणास्तदनुसारं च परिवर्तन्त एव ते।
न्यूनतामधिगच्छन्ति तथैवाधिकतां क्वचित्॥ ४३॥
वनस्पतीन् विधातुं च वायुभूतांस्तु वर्तते।
विशेषं त्वेकविज्ञानमग्निहोत्रं वदन्ति यत्॥ ४४॥
वृक्षांस्तु समिधारूपे हविष्ये च वनस्पतीन्।
उपयुञ्जत एवात्र यज्ञे मंगलकारिणि॥ ४५॥
सूक्ष्मा शक्तिरुदेत्येषामेवं स्थूलाच्च वर्तते।
सूक्ष्मे सामर्थ्यमत्यर्थं जानन्त्येतज्जनाः समे॥ ४६॥

टीका—इसी संदर्भ में देवर्षि ने वनस्पति विज्ञान का वह पक्ष समझाया, जिसमें उनकी सूक्ष्मशक्ति का उपयोग किया जाता है और सूक्ष्मशरीर के असंतुलन से त्राण पाया जाता है। पदार्थ के ठोस और द्रवस्वरूप प्रत्यक्ष होने के कारण नेत्रों से देखे जा सकते हैं। तीसरा स्वरूप वायुभूत होता है, जो आँखों से दीखता नहीं है। यह सूक्ष्म रूप महाप्राणवान एवं महाबलशाली है। जल को हिम के रूप में ठोस प्रवाही रूप में द्रव और वाष्प रूप में वायुभूत होते देखा जा सकता है। यही स्थिति हर पदार्थ में है। यहाँ कुछ भी नष्ट नहीं होता, परिस्थिति वश उनमें परिवर्तन होता रहता है। तदनुसार उसके गुण भी बदलते और न्यूनाधिक होते रहते हैं। वनस्पतियों को वायुभूत करने का एक विशेष विज्ञान है, जिसे अग्निहोत्र कहते हैं। प्राणिमात्र के लिए मंगलमय इस कार्य में समिधा रूप में और वनस्पतियों को हविष्य बनाया जाता है।

इस प्रकार उनकी सूक्ष्मशक्ति उभरती है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की सामर्थ्य अत्यधिक होती है, इस तथ्य को सभी जानते हैं॥ ३८-४६ ॥

अग्निहोत्रे वायुभूतान् निर्मान्त्यत्र वनस्पतीन्।
नासामार्गेण तान् बुद्धौ फुप्फुसे प्रापयन्त्यथ॥ ४७ ॥
रक्तस्य माध्यमेनात्र श्वासस्यापि च संभवम्।
शरीरे प्रेषितुं तस्मात्तत्कालं जायतेऽञ्जसा ॥ ४८ ॥
द्रवरूपे कठोरे च सेवितानां तु पाचने ।
पदार्थानां प्रभावोऽत्र शरीरे जायते सदा॥ ४९ ॥
तस्मिन् विधौ मले मूत्रे शक्तिरेषा प्रयात्यपि।
विलंबेन प्रभावश्च जायते वपुषि क्रमात् ॥ ५० ॥
गृहीते त्वग्निहोत्रे च स्वरूपं वायुतां गतम्।
वानस्पत्यं सपद्येव मर्मस्थानानि गच्छति ॥ ५१ ॥
चित्तोपचार दृष्ट्या चाऽमोघोऽयं विधिरुत्तमः।
मस्तिष्कस्य समेष्वेव भागेष्वेव तदञ्जसा॥ ५२ ॥
औषधिप्रेषण श्वासमार्गेणैव सुसंभवम्।
विज्ञानं पृथगेवैतद् गंधस्यास्ति निजं महत्॥ ५३ ॥

टीका—अग्निहोत्र में वनस्पतियों को वायुभूत किया जाता है। उन्हें नासिका द्वारा मस्तिष्क तथा फेफड़ों में पहुँचाना तथा रक्त और श्वास के माध्यम से समस्त शरीर में तत्काल पहुँचाना संभव होता है। ठोस और द्रव रूप में सेवन किए पदार्थों का प्रभाव पचने पर ही होता है। उस प्रयास में बहुत कुछ मल-मूत्र में निकल जाता है और प्रभाव भी देर में होता है। अग्निहोत्र विद्या को अपनाने पर वनस्पतियों का वायुभूत स्वरूप अतिशीघ्र शरीर के मर्मस्थलों तक पहुँच जाता है।

मानसोपचार की दृष्टि से तो यह उपाय अमोघ है; क्योंकि मस्तिष्क के हर क्षेत्र में किसी ओषधि को पहुँचाना श्वास मार्ग से ही संभव हो सकता है। गंध का अपना अलग विज्ञान है॥ ४७-५३ ॥

विभिन्नानां च गन्धानां नासया ग्रहणेन तु।
शारीरिक्यां स्थितौ भेदो मानसिक्यां विजायते॥ ५४॥
अग्निहोत्रोपयोगोऽत आधि-व्याधि-विनाशने।
अस्माद्धेतोर्मतो लोके प्राणिकल्याणकामुकैः॥ ५५॥
अवाञ्छनीयतानाश एव नैवापि स महान्।
गुणः सामर्थ्यवृद्धेः स वर्ततेऽस्मिन् शुभावहः॥ ५६॥
अग्निहोत्रेणत्व ग्रामे ग्रौम-कूपैर्यो गृह्यते ततः।
आरोग्यं वर्द्धते यश्च भागः श्वासेन गृह्यते॥ ५७॥
प्रतिक्रिया मनः क्षेत्रे शीघ्रं तस्य तु दृश्यते।
अग्निहोत्रे पदार्थानां सूक्ष्मशक्तेः शुभोदयः॥ ५८॥
शक्तिपूर्णं तथैवास्या विजृम्भणमपीह च।
भावना शब्दशक्तिभ्यामिह संभवतः स्वतः॥ ५९॥

टीका—विभिन्न गंधों के नासिका द्वारा ग्रहण करने पर मनुष्य की शारीरिक-मानसिक स्थिति में विशेष प्रकार का अंतर होता है। अग्निहोत्र की उपयोगिता आधि-व्याधियों के निवारण में प्राणिमात्र के हितैषी ऋषियों ने इसी कारण मानी गई है। उसमें अवांछनीयता निवारण का ही नहीं, समर्थता-अभिवर्द्धन का भी महान गुण है। अग्निहोत्र के माध्यम से त्वचा के रोमकूपों द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह आरोग्य बढ़ता है और जो भाग श्वास द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया मनःक्षेत्र पर जल्दी ही दृष्टिगोचर होती है। अग्निहोत्र

में पदार्थों की सूक्ष्मशक्ति का प्रकटीकरण व शक्ति पूर्ण विजृंभण (फैलाव) भावना एवं शब्द शक्ति का समावेश होने पर ही संभव होता है ॥ ५४-५९ ॥

प्रयोज्या ये पदार्थास्ते विशेषविधिना समे।
प्रखरा अपि पूताश्च विधीयन्ते विधानगैः ॥ ६० ॥
आधारेण च तेनैव सामान्या अपि ते ततः।
असामान्यास्तु जायन्ते पदार्थाः पूर्णतः समे ॥ ६१ ॥
जलाग्नि-समिधागव्यघृतादि-हविषामिह ।
येषां प्रयोग इष्टस्तु क्रियन्तेऽथोच्चगान्यपि ॥ ६२ ॥
यज्ञे प्रयुज्यमानस्य कर्मकांडस्य विद्यते।
इदमेव रहस्यं तु नित्यकर्म विधेरलम् ॥ ६३ ॥
विधेरस्य प्रयोक्तॄणां व्यक्तित्वं ब्राह्मणोचितम्।
भवेत्तदैव कर्मैषां वाणी स्यातां परिष्कृते ॥ ६४ ॥
एतादृशैः प्रयुक्तैस्तैर्मन्त्रैश्च विधिभिः स्वतः।
अग्निहोत्रं स्तरं तं तु याति यो यज्ञ उच्यते ॥ ६५ ॥

टीका—प्रयुक्त किए जाने वाले पदार्थों को विशेष विधि से पवित्र और प्रखर बनाया जाता है। उसी आधार पर वे पदार्थ सामान्य से असामान्य बनते हैं। जिस जल, अग्नि, समिधा, हविष्य, गोघृत आदि का उपयोग होता है, उसे विधि विशेष से उच्चस्तरीय बनाया जाता है। यही यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले नित्य कर्म विधिस्वरूप कर्मकांड का रहस्य है। इस विधान के प्रयोक्ताओं का व्यक्तित्व भी ब्राह्मणोचित होना चाहिए। तभी उनकी वाणी एवं क्रिया परिष्कृत

होती है। ऐसे ही लोगों द्वारा प्रयुक्त किए गए मंत्रों एवं विधानों द्वारा अग्निहोत्र उस स्तर का बनता है, जिसे यज्ञ कहते हैं॥ ६०-६५ ॥

यज्ञमाहात्म्यमुक्तं च शास्त्रेष्वाप्त वचःस्वपि।
अग्निप्रज्वलनं नेदं वस्तुहोमफलं न च॥ ६६ ॥
केवलं मन्यतां, किंतु प्रयुक्तानां यथाविधि ।
वस्तूनां सूक्ष्मशक्तेरुन्नयनं प्रमुखं मतम्॥ ६७ ॥
कर्मकांडाय यद्यत्र मंत्रोच्चाराय लभ्यते।
उपयुक्तः प्रवक्ता तत्साफल्ये नहि संशयः॥ ६८ ॥
कर्मेदं यज्ञकर्तृणां भवत्येव पुरोधसाम्।
पूततामधिकृत्याथ प्रखरत्वमपि स्वयम् ॥ ६९ ॥
अग्निहोत्रस्य चाश्चर्यजनकं फलमद्भुतम्।
अस्मिन्नेवविधौ सर्वमवलंबितमस्ति तत् ॥ ७० ॥

टीका—यज्ञ के माहात्म्यों का वर्णन शास्त्रों और आप्त वचनों में सर्वत्र मिलता है। यह मात्र अग्नि प्रज्वलन और वस्तु हवन का प्रतिफल नहीं है। विधिपूर्वक प्रयुक्त वस्तुओं का सूक्ष्मशक्ति का उन्नयन उसमें प्रमुख है। कर्मकांड और मंत्रोच्चार के लिए उपयुक्त प्रवक्ता यदि मिल सकें तो उसकी सफलता में संदेह नहीं रह जाता। यह कार्य यज्ञ पुरोहितों की पवित्रता और प्रखरता के आधार पर बन पड़ता है। अग्निहोत्र के आश्चर्यजनक प्रतिफल इसी विधि-व्यवस्था पर अवलंबित है। ॥ ६६-७० ॥

उपयोगोऽग्निहोत्रस्य वपुः संबंधिनामथ।
मनः संबंधिनां चैव रोगाणां नाशने तथा ॥ ७१ ॥

उभयोः क्षेत्रयोश्चापि तस्मिन्नुन्नयने सदा।
जायते यज्ञ एषोऽत्र विद्यते स्तर उच्चगः ॥ ७२ ॥
वातावृतेः परिष्कारे स सदैव प्रयुज्यते ।
राजसूयादियज्ञेषु भौतिकानां तु प्रायशः ॥ ७३ ॥
समस्यानां समाधानहेतवे भवति स्म च ।
तत्स्तरप्रतिभानां तु तदेकीकरणं शुभम् ॥ ७४ ॥
वाजपेये च यज्ञे तु धर्मज्ञास्ते मनीषिणः ।
जायन्ते च परिष्कर्तुं संगता जनमानसम् ॥ ७५ ॥
उभे चायोजने वायुमंडलं परिशोधितुम् ।
निर्धारणं च निश्चेतुं भवतस्तत्र तत्र तु ॥ ७६ ॥
प्रयोजनानि चालक्ष्य-विशेषाणि तु पर्वसु ।
स्थानेषु हि विशेषेषु यज्ञानायोजयन्त्यपि ॥ ७७ ॥
आस्थां प्रति समायातं दूरीकर्तुं तु संकटम् ।
गायत्री यज्ञ एवास्ति संस्कर्तुं मानसं विधिः ॥ ७८ ॥
उत्कृष्टतममेतच्च विधातुं जनजीवनम्।
मतं विशेषमेवास्य महत्त्वं वेदपारगैः ॥ ७९ ॥

टीका—अग्निहोत्र का उपयोग शारीरिक-मानसिक रोग निवारण और दोनों ही क्षेत्रों के उन्नयन (अभिवर्द्धन) के निमित्त होता है। यज्ञ इसी का ऊँचा स्तर है। उसे वातावरण के परिशोधन करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। राजसूय यज्ञ समारोहों में भौतिक समस्याओं के समाधान हेतु उसी स्तर की प्रतिभाओं का एकीकरण होता है। वाजपेय यज्ञ में जनमानस के परिष्कार की आवश्यकता पूरी करने के लिए धर्मक्षेत्र के मनीषियों का संगम होता है। दोनों

ही प्रकार के आयोजन वायुमंडल का परिशोधन का उपाय खोजने और निर्धारण- निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए होते हैं। विशेष प्रयोजनों के लिए विशेष स्थानों और पर्वों पर विशेष यज्ञों के अनुष्ठान- आयोजन भी होते रहते हैं। आस्था संकट निवारण और जनमानस को परिष्कृत करने के लिए गायत्री यज्ञ ही एकमात्र उपाय है। जनजीवन में उत्कृष्टता भरने के लिए उसका विशेष महत्त्व वैदिकों द्वारा माना गया है ॥ ७१-७९ ॥

यज्ञे व्यक्तेस्तु चैतन्ये देवत्वस्य सुभावनाम्।
परिवर्द्धयितुं नूनं विशेषोऽस्ति गुणो महान्॥ ८० ॥
ब्रह्मकर्मसु यज्ञस्य सर्वत्रैवात एव तु।
समावेशोऽनिवार्योऽस्ति मंत्रशक्तिस्तदाश्रयात्॥ ८१ ॥
प्रखरत्वमुपैत्यैवं परिपक्वत्वमप्यलम्।
ऋषयः पुरोधसोऽजस्रं श्रयन्ते यज्ञ-सन्निधिम्॥ ८२ ॥
वायुमंडलमत्यर्थं दूषितं तत्र विकृतम्।
वातावरण मप्येतन्नृणां दुर्बुद्धि संभवम्॥ ८३ ॥
निराकर्तुमसंदिग्धं क्षमत्वं वर्तते ध्रुवम्।
यज्ञोपचारकार्यस्य बलाद्बुद्धि-प्रभाविणः ॥ ८४ ॥

टीका—यज्ञ में व्यक्ति चेतना में देवत्व की मात्रा बढ़ाने का विशेष महान गुण है। इसलिए ब्रह्मकर्मों में सर्वत्र यज्ञ का अनिवार्य रूप से समावेश किया जाता है। मंत्रशक्ति उसी आधार पर प्रखर परिपक्व होती है। पुरोहित और ऋषि निरंतर यज्ञ के सान्निध्य में रहते हैं। दूषित वायुमंडल और विकृत मानवीय वातावरण के निराकरण में यज्ञोपचार की क्षमता असंदिग्ध है, क्योंकि वह बुद्धि को बलपूर्वक प्रभावित करता है ॥ ८०-८४ ॥

यज्ञैर्विधिकृतैः प्राण-पर्जन्यो वर्द्धते दिवि।
वर्षत्यपि जलेनैष वायुना भुवि चान्ततः ॥ ८५ ॥
न्यूनातायास्तु दुर्भिक्षमाधिक्येन च जायते।
सुभिक्षं प्रकृतेश्चापि प्रातिकूल्यं तथैव च ॥ ८६ ॥
आनुकूल्यं तु तत्प्रायस्तिष्ठत्येव तदाश्रितम् ।
यज्ञात्प्राणदपर्जन्य-वर्षणं भवतीह तु ॥ ८७ ॥
तेनाभिवर्षणेनात्र तत्त्वानां पुष्टिदायिनाम् ।
बाहुल्यं जायते नूनं वनस्पत्यादिषु स्वयम् ॥ ८८ ॥
तेषां चैवोपभोक्तारः पशवः पक्षिणोऽथ च ।
मनुष्या अपि जायन्ते समर्था बलवत्तराः ॥ ८९ ॥
कृषावुद्यान वृक्षेषु कृमयो हानिकारकाः ।
उत्पद्यन्ते न कुत्रापि यान्त्युत्पन्ना विनाशताम् ॥ ९० ॥

टीका—विधिवत् किए गए यज्ञों से अंतरिक्ष में प्राण पर्जन्य बढ़ता है और बरसता है। जल और वायु के साथ पृथ्वी पर आकाश से प्राण भी बरसता है। उसी की न्यूनाधिकता से दुर्भिक्ष सुमिक्ष पड़ते हैं। प्रकृति की प्रतिकूलता-अनुकूलता भी बहुत कुछ उसी स्थिति पर निर्भर रहती है। प्राण-पर्जन्य वर्षा यज्ञ से उपयुक्त मात्रा में होती है। उस अभिवर्षण के कारण वनस्पतियों में पोषणतत्त्वों का बाहुल्य रहता है और उसका सेवन करने वाले पशु-पक्षी और मनुष्य समर्थ एवं बलिष्ठ रहते हैं। कृषि-उद्यानों में हानिकारक कृमि-कीटक नहीं लगते व लगे हों तो नष्ट हो जाते हैं॥ ८५-९० ॥

इयदेव न मर्त्यानां दुर्विचारा विशन्त्यलम्।
वायावव्यक्तशब्दानां रूपे तेनेदमन्ततः ॥ ९१ ॥

भूमंडलमशेषं तु दूषितं जायतेऽथवा।
वातावरणमत्यर्थं स्थानानां दूषितं भवेत्॥ १२॥
दुर्विचारा इमे सर्वे जले नायान्ति भूतले।
प्रविशन्ति फलान्नेषु वनस्पत्यादिषु स्वतः॥ १३॥
एतेषामुपयोक्तृणां दोषणैषा धराऽखिला।
दूषिता जायते यज्ञः परिष्कर्तुं क्षमः समान्॥ १४॥

टीका—इतना ही नहीं मानवों के दुर्विचार जब अव्यक्त शब्द रूप में वायु में प्रवेश करते हैं तो क्रमशः सारा भूमंडल या तत्तत् स्थानों का वातावरण दूषित हो जाता है। यही दुर्विचार जल के साथ पृथ्वी पर आते हैं व फल-वनस्पति-अन्न में प्रवेश कर जाते हैं और इनका उपयोग करने पर समस्त पृथ्वी दुर्विचार वाली हो जाती है। इन सब का परिष्कार यज्ञ से ही संभव है॥ ११-१४॥

प्राणी सामाजिको मर्त्यश्चर्यास्य जीवनस्य तु।
प्रगतिश्च बहूनां सा सहयोगस्य लब्धिभिः॥ १५॥
व्यवतिष्ठत आदानप्रदानाभ्यां परस्परम्।
साधनानि नरा नूनं संगृह्णन्ति तथैव च॥ १६॥
लाभं तेऽनुभवोत्पन्नं हस्तगं कारयन्ति च।
जन्मदात्री समृद्धेः सा प्रगतेः सहकारिता॥ १७॥
आधारमिममाश्रित्य नरः सामर्थ्यवानपि।
बुद्धिमान् धनवांश्चैव बभूवाद्यापि जायते॥ १८॥

टीका—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी जीवनचर्या और प्रगति अनेकानेकों का सहयोग उपलब्ध होने पर ही ठीक प्रकार चलती है। मनुष्य पारस्परिक आदान-प्रदान से एकदूसरे के लिए

सुविधा-साधन जुटाते और अनुभवजन्य लाभ लोगों को हस्तगत कराते हैं। सहकारिता ही प्रगति और समृद्धि की जन्मदात्री है। इसी आधार पर मनुष्य बुद्धिमान, सामर्थ्यवान और संपत्तिवान बना है व आज भी बन रहा है ॥ ९५-९८ ॥

समुदायानुदानेऽस्मिन् पशूनां पक्षिणामपि।
योगदानं नहि न्यूनं विद्यते सुमहांस्तथा ॥ ९९ ॥
सहयोगोऽस्ति वृक्षाणां येषामेवानुदानतः ।
मानवः प्रगतिं याति जीवत्यपि महीतले ॥१००॥
एभ्यो लभ्यो भवत्येष प्राणवायुः सदैव तु ।
आहारो बीजपत्रादिकंद-प्रसव-रूपतः ॥१०१॥
प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र मेघा आकर्षणेन च ।
वर्षन्त्येषां च मूलानि जलं रुन्धन्तिभूतले ॥१०२॥
खाद्योर्वरां धरा शक्तिं पत्रैः प्राप्नोति संततम् ।
तद्दत्तानीन्धनानीह भवनानां विनिमितौ ॥१०३॥
विना नैवेन्धनैः कार्यं सिद्ध्यत्यन्नानि तान्यलम्।
वस्त्राण्यपि ददत्येते वनस्पतय उत्तमाः ॥१०४॥

टीका—इस सामुदायिकता में पशु-पक्षियों का भी कम योगदान नहीं है। इससे भी बड़ा सहयोग वृक्ष-वनस्पतियों का है। वृक्ष-वनस्पतियों के अनुदानों से ही मनुष्य जीवित रहता और प्रगतिशील बनता है। प्राणवायु उन्हीं से मिलती है। आहार उन्हीं के बीज, पत्तों, कंदों और फलों से उपलब्ध होते हैं। वर्षा के बादल उन्हीं के खिंचाव से बरसते हैं। वर्षा के जल को भूमि में रोकने का काम जड़ें ही करती हैं। धरती के उर्वरक खाद उनके पत्तों से मिलती है। ईंधन उन्हीं की

देन है। भवननिर्माण में लकड़ी के बिना काम नहीं चलता। अन्न, वस्त्र जैसी आवश्यकता वनस्पतियाँ ही पूरी करती हैं॥ ९९-१०४॥

आलक्ष्यैवानुदानानि महान्तीह वनस्पतीन्।
संजीवनीतिनाम्नैव कीर्तयन्ति जनाः समे॥ १०५॥
वनस्पति-वृक्षेषु बहवो देवता इव।
पूज्यन्ते पूजिताः पूर्वं कृतज्ञैः पुरुषैः सदा॥ १०६॥
कुटुंबेन यथामर्त्यः सुखं वसति स तथा।
सुखिने जीवनायैव निवासेऽस्य तथैव च॥ १०७॥
कार्यक्षेत्रे भवेदेव हरितत्त्वं तु प्रायशः।
सुमनःसु हसत्स्वत्र सुषमा सा विलोक्यते॥ १०८॥

टीका—इन अनुदानों को देखते हुए वनस्पतियों को 'जीवनमूरि' (संजीवनी) कहा जाता रहा है। वृक्षों और वनस्पतियों में से अनेक को देवता की तरह पूजा जाता रहा है, व आज भी पूजे जाते हैं। जिस प्रकार परिवार के साथ सुखपूर्वक रहा जाता है, उसी प्रकार सुखी जीवन के लिए निवास स्थान एवं कार्यक्षेत्र में हरीतिमा का बाहुल्य रहना चाहिए। हँसते-हँसाते पुष्पों में शोभा सौंदर्य का भंडार माना गया है॥ १०५-१०८॥

अभिवर्द्धनमेतेषां परिपोषणमप्यथ ।
संरक्षणं कथं कार्यं वृक्षादीनां विधाविह॥ १०९॥
ऋषयो ज्ञानमापुस्ते गहनं चक्रुरत्र च।
उद्यानानां नृभिः सार्धं स्थापनां स्वयमप्यथ ॥ ११०॥
वनस्पतिभिरावास-प्रेरणामृषयो ददुः ।
साधारणेभ्यो मर्त्येभ्यो वसन्तः तैः सह स्वयम् ॥ १११॥

कारणं चेदमेवास्ति यदृषीणां वनौकसाम् ।
आवास वर्णने वृक्षलतानां सरसामपि ॥ ११२ ॥
वनस्पत्यादिकानां च निर्झराणां च वर्णनम् ।
पशुपक्षिकलाराववर्णनं विद्यते बहु ॥ ११३ ॥
स्वर्गस्य गौरवं प्रोक्तं नन्दनं वनमाश्रितम् ।
सुखिनः समुन्नतान् कर्तुं मानवांस्ते व्यधुः स्वयम् ॥ ११४ ॥
कृष्युद्यानादि-संबद्धशोधकार्याण्यथापि च ।
सोत्साहांश्च नरांश्चक्रुः प्राप्तुं प्रावीण्यमत्र तु ॥ ११५ ॥
क्षेत्राणि विविधान्यत्र प्रवासस्थं तु मंडलम् ।
सोत्साहं तत्र चाद्राक्षीन्ननन्दुश्च मनीषिणः ॥ ११६ ॥

टीका—वृक्ष-वनस्पतियों का अभिवर्द्धन, परिपोषण, संरक्षण कैसे किया जाए, इस विधा की ऋषिगण गहरी जानकारी प्राप्त करते रहे हैं। वे स्थान-स्थान पर अगणित उद्यान लगाते-लगवाते रहे हैं। वनस्पतियों के साथ गुंथे रहने की प्रेरणा वनस्पतियों के साथ रहने वाले ऋषिगण सदैव जनसाधारण को देते रहे हैं। स्वर्ग का गौरव नंदनवन पर आधारित बताया गया है। मनुष्यों को सुखी-समुन्नत बनाने के लिए उनने कृषि, उद्यान से संबंधित अगणित तथ्यों को खोजा और उस कला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए जन-जन को उकसाया। इस कार्य में प्रयुक्त हुए अनेक क्षेत्र प्रवास मंडली ने उत्साहपूर्वक देखे और सभी मनीषीगण अतिप्रसन्न हुए॥ १०९-११६ ॥

नारदो दर्शयामास तानि स्थानानि तत्र च।
असंख्यानि तु येष्वत्र क्षेत्रेऽभूवन् बहून्यहो ॥ ११७ ॥
अनुसंधान-कार्याणि यज्ञ विज्ञानगानि च।
तद्वनस्पति विज्ञान संबद्धान्यपि संततम् ॥ ११८ ॥

तत्प्रयोजनहेतोश्च यत्र जातानि तानि तु।
आयोजनानि सोत्साहैराप्तो लाभो नरैरपि॥ ११९ ॥
ऊर्जो विज्ञानगः प्रोच्च उपयोगः कथं कियान्।
अग्निहोत्रैस्तथा यज्ञैस्तत्राक्रियत शोभनः॥ १२० ॥
तस्याधारेण संसारः कियन्तं लाभमाप्तवान्।
इतिहासमिमं सर्वं श्रावयामास नारदः॥ १२१ ॥
तत्प्रयोगाभिसंबद्ध-क्षेत्रमस्याक्षिगोचरम् ।
मंडलस्य व्यधात्तत्र नारदो यर्हि तर्हि ते॥ १२२ ॥
सदस्या मंडलस्थास्तु परमानंदमाययुः।
पर्यवेक्षण यात्रायां संतुष्टास्ते विशेषतः॥ १२३ ॥

टीका—नारद जी ने उन अगणित स्थानों को भी दिखाया जहाँ इस क्षेत्र में वनस्पति विज्ञान तथा यज्ञ विज्ञान के गहन अनुसंधान होते थे। जहाँ उस प्रयोजन के निमित्त बड़े-बड़े आयोजन हुए और अनेकानेक ने उत्साहपूर्वक लाभ उठाए। ऊर्जा विज्ञान का उच्चस्तरीय उपयोग अग्निहोत्र एवं यज्ञादि द्वारा किस प्रकार किया जाता रहा और उस आधार पर समस्त संसार को कितना लाभ मिला, यह इतिहास देवर्षि नारद द्वारा सुनाया गया। तथा उस प्रयोग से संबंधित अनेकानेक स्थलों क्षेत्रों का दिग्दर्शन कराया गया तो प्रवास मंडली के प्रत्येक सदस्य को बहुत आनंद मिला और उस यात्रा पर्यवेक्षण पर विशेष संतोष हुआ॥ ११७-१२३ ॥

दिनं परिणतं दृष्ट्वा खाद्यचिंता तथैव च।
योग्यावासस्य चिंताऽपि समायाता तु सम्मुखे॥ १२४ ॥
उभयोश्च समाधाने सूर्येऽस्ते स्थगिता समैः।
यात्रा नित्यविधिं कृत्वा रात्रिवासं व्यधुः सुखम्॥ १२५ ॥

टीका—दिन ढलने लगा तो खाद्य पदार्थ ढूँढ़ने और रात्रि विश्राम के लिए उपयुक्त स्थान खोजने की चिंता होने लगी। दोनों ही साधन जुट गए तो सूर्यास्त होने पर यात्रा को विराम दिया गया। नित्य कर्म से निवृत्त होकर मंडली के सदस्य सुखपूर्वक रात्रि बिताने लगे॥ १२४-१२५॥

इति श्रीमद्प्रज्ञोपनिषदि देव संस्कृति खंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन-साधनाप्रकटीकरणयोः महर्षि नारद प्रतिपादित 'यज्ञ विज्ञान-वनस्पति विज्ञान' इति प्रकरणो नाम

॥ पंचमोऽध्यायः॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः॥

आत्मशोधन प्रकरण

षष्ठस्य दिवसस्याथ प्रवासे मंडलस्य ते।
सदस्याः साभिलाषा संजाता ज्ञातुमिदं कथम्॥ १॥
वैभवं वर्च एवापि मानवोचितमुत्तमम्।
प्राप्तुं शक्यं कुतो येन सुखिनः स्युः समेऽप्यलम्॥ २॥
तत्परत्वस्य यद्येष आकांक्षायाश्च विद्यते।
परिणामस्तदा त्वेते सर्वेष्वत्र तिष्ठतः॥ ३॥
इच्छायामपि सत्यां च साफल्यं यान्ति नो जनाः।
प्राप्तुमेतत्कथं सर्वे कारणं किं च विद्यते॥ ४॥
अनुग्रहोऽयं दैवश्चेत्समदर्शितया ततः।
भगवतो मानवैः सर्वैः प्राप्येतैव सुनिश्चितम्॥ ५॥
प्रगतेरिच्छुकानां च समृद्धेरपि ते कथम्।
असंख्याः सन्ति साफल्यहीनास्ते दुर्मनायिताः॥ ६॥

समानाः स्थितयः सर्वैः प्रायः प्राप्ता अपीह च।
न्यूनाधिक्यतया चित्तं शरीरं च समं नृणाम्॥ ७॥
अनुन्नतस्थितावेव केषाञ्चित्तु नृणामिह।
केषाञ्चित्प्रगतेरुच्चशिखरेऽत्र स्थितिस्तदा॥ ८॥
पतनस्य पराभूतेर्यन्त्रणासहनं नृणाम्।
कथं भवति तत्सर्वं रहस्यं ज्ञेयमेव तु॥ ९॥
नृणां चित्तगतेज्ञाने निष्णातो नारदो मुनिः।
मंडलस्य सदस्यानां जिज्ञासां प्राप्य चाह सः॥ १०॥

टीका—छठे दिन के प्रवास में मंडली के सदस्यों को यह जानने की अभिलाषा हुई कि मनुष्योचित वैभव-वर्चस किस प्रकार कहाँ से उपलब्ध होता है, जिससे सभी सुखी हो सकते हैं। यदि यह आकांक्षा और तत्परता का परिणाम है तो वह सभी में रहती है, फिर लोग इच्छा रहते हुए भी सफल क्यों नहीं होते? यदि वह दैवी अनुग्रह है तो फिर भगवान के समदर्शी होने के नाते वह सभी को समान रूप से क्यों उपलब्ध नहीं होता? प्रगति और समृद्धि की आकांक्षा करने वालों में से क्यों असंख्यों को मन-मसोस कर असफल रह जाना पड़ता है। परिस्थितियाँ न्यूनाधिक मात्रा में सभी को एक जैसी उपलब्ध हैं। शरीर और मन की सरंचना भी प्रायः मिलती-जुलती ही है, फिर किसी का पिछड़ी स्थिति में पड़े रहना, किसी का प्रगति के उच्चशिखर पर जा पहुँचना और किसी का पतन-पराभवजन्य यंत्रणाएँ सहते रहना क्यों-कर होता है? यह रहस्य जानना चाहिए। जन-जन के मन-मन की बात जानने में निष्णात महाभाग नारद जी ने मंडली के साथियों की जिज्ञासा का आभास पाया और मुस्कुराते हुए बोले— ॥ १-१०॥

नारद उवाच—

नैव भाग्यविधानस्य विधिः शोच्यः कदाचन।
भवद्भिर्न विचार्यं च यन्मंत्रस्याथवा पुनः ॥ ११ ॥
देवस्य कस्यचिच्छिन्नचमत्कारेण वाऽञ्जसा।
नरः साफल्यमाप्नोति वैभवं चातुलं तथा ॥ १२ ॥
प्राप्यते यत्पौरुषस्य फलं तन्मन्यतां ध्रुवम्।
पुरुषार्थेषु मुख्यं तदात्मशोधनमुच्यते ॥ १३ ॥
जन्मान्तरकुसंस्कारान् दूरीकर्तुं निजात्मना।
तप आदाय संघर्षः कार्य एवं नरैः समैः ॥ १४ ॥
आकांक्षामान्यतास्वत्र प्रकृतिष्वपि संगतैः।
पशुस्तैरैर्निकृष्टैस्तैर्भावैर्मत्या वृता इह ॥ १५ ॥
चक्रव्यूहे च तस्मिंस्ते स्पर्शिताश्च भ्रमन्त्यलम्।
यंत्रवृषभतुल्यास्ते शर्म विन्दन्ति नो क्षणम् ॥ १६ ॥
न चैवं प्राप्नुवन्त्येते किमपीप्सितमुत्तमम्।
मानवं जीवनं येन भवेत्सार्थकमन्ततः ॥ १७ ॥

टीका—नारद ने कहा—आप लोग भाग्य-विधान की बात न सोचें। किसी देवता या मंत्र के चमत्कार से मनुष्य अनायास ही सफलताएँ प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा भी न सोचें। जो मिलता है, वह मनुष्य के पुरुषार्थ का प्रतिफल होता है। पुरुषार्थों में प्रमुख आत्मशोधन है। जन्म-जन्मांतरों के संचित कुसंस्कार को निरस्त करने के लिए अपने आप से तपश्चर्या का माध्यम अपनाकर लड़ना पड़ता है। आकांक्षाओं, मान्यताओं और आदतों में घुसी हुई पशुस्तर की निकृष्टता से सामान्य जन घिरे रहते हैं। वे उसी चक्रव्यूह में फँसे, कोल्हू के

बैल की तरह जुते रहते हैं, उन्हें एक क्षण भी सुख नहीं मिल पाता तथा उनके पल्ले कुछ ऐस नहीं पड़ता, जिससे मनुष्य जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सके॥ ११-१७॥

मनोरथा अहंकारसंभवा लोभमोहजाः ।
भवबंधनशब्देन कथ्यंते मुनिभिर्वरैः ॥१८॥
भंक्तुमेतदपेक्ष्यं तदन्तः साहसमुत्तमम् ।
इदमेवोद्गतं कर्तुं संभवेच्चेत्तदैव तु ॥१९॥
आत्मशोधन हेतोश्च संभवेदात्मना स्वयम् ।
योद्धुं लोके नरः पुण्यो भविष्यत्कर्तुमुज्ज्वलम्॥ २०॥
गीतायां वर्णितं दिव्यं य एव जयति स्वतः।
इदमान्तरिकं मर्त्यो महाभारतमुत्तमम् ॥२१॥
नरं तं वृणुते शीघ्रं विजयश्रीस्तथैव सः।
ऋद्धिसिद्धिरवाप्नोति भौतिकाध्यात्मिकीर्द्रुतम्॥ २२॥

टीका—लोभ, मोह और अहंकार के क्षुद्र मनोरथों को ही मुनिगण भवबंधन कहते हैं। इन्हें तोड़ने के लिए आंतरिक साहस की आवश्यकता पड़ती है, उसे उभारा जा सके तो आत्मशोधन के लिए अपने आपसे लड़ सकना संभव होता है, ऐसा कर सकने वालों का भविष्य उज्ज्वल बनता है, व वही पुण्यात्मा होता है। जो गीता में वर्णित इस आंतरिक महाभारत को जीतता है, उसे विजयश्री वरण करती है और भौतिक सिद्धियों तथा आत्मिक ऋद्धियों का उपहार अनायास ही प्राप्त होता है॥ १८-२२॥

मनोनिग्रहरूपे च तपश्चर्याविधौ तु ये ।
स्वभाव अनुपयुक्तास्तु स्पष्टं द्रोह्याः समेऽपि ते॥ २३॥

एतदर्थं नैरग्राह्यमनुशासनमुत्तमम् ।
व्रतधारणमप्यत्र विधेयं च यथाविधि ॥ २४॥
मनो जयति यो विश्वविजयी स भवेन्नरः।
अभ्यासेऽस्मिन् समग्रास्यात्साधना संयमस्य तु॥ २५॥
चतुर्धा संयमः प्रोक्तो विचारेन्द्रिययोरथ।
कालार्थयोश्च मर्त्यस्य जीवने सर्वदैव तु॥ २६॥
य इमान् साधयेन्मर्त्यः साधको वस्तुतस्तु सः।
साधना परिणामश्च सिद्धिरूपे भवेदिह॥ २७॥

टीका—मनोनिग्रह की तपश्चर्या करने में अभ्यस्त आदतों में से जो अनुपयुक्त है, उनके विरुद्ध खुला विद्रोह करना पड़ता है। इसके लिए अनुशासन अपनाने और व्रत धारण करने पड़ते हैं। जो मन को जीतता है, वह विश्व विजयी बन सकता है। इस अभ्यास में समग्र संयम-साधना होती है। संयम चार प्रकार के हैं—इंद्रियसंयम, अर्थसंयम, समयसंयम और विचारसंयम, जो मनुष्य के जीवन में सदा अपेक्षित हैं। जो इन्हें साध लेता है, वही सच्चा साधक है। साधना की परिणति सिद्धि के रूप में होकर रहती है॥ २३-२७॥

कुसंस्कारैश्च योद्धुं यो मानवस्तु प्रवर्तते।
अयने प्रथमे सोऽत्र पशुस्तरगतांस्तु तान्॥ २८॥
आदर्शरहितान् मर्त्यान्नानुकर्तुं तथैव च।
तैर्दत्तं च परामर्शं वाञ्छत्यल्पमपीह नो॥ २९॥
साधकस्त्वात्मनो लक्ष्यं निश्चिनोति स्वयं तथा।
आत्मानं परमात्मानं सद्धयञ्चौ प्रविचारयन्॥ ३०॥
ताभ्यां विनिश्चतो मार्गोऽवलम्ब्यः प्रेरणां च ये।
अधिगच्छन्ति हीनैस्ते तथा हीना भवन्त्यपि॥ ३१॥

आदर्शांस्ते सदैवात्र गृह्णन्त्यध्यात्मवादिनः।
असंख्यानानुकर्तुं च प्रेरकं मार्गमुत्तमम्॥ ३२॥
चिन्वन्ति दूरदर्शित्वयुतेनैतेन चात्मनः।
विवेकेन त्यजन्त्येनं नैवालस्यादिभिः क्वचित्॥ ३३॥
संघर्षेणात्मनो विद्युदुदेति स्वयमेव सा।
प्रयोजनानि पूर्यन्ते ययाऽऽश्चर्यकराणि तु॥ ३४॥
मनोबलं न कश्चित्तु लभते पुरुषोऽञ्जसा।
तदाप्तुं च निजेनात्र स्वभावेनाथवा पुनः॥ ३५॥
स्वजनोत्पादिता बह्वीः सिद्धांतरहितास्तु ताः।
बाध्यतास्त्यक्तुमभ्येति साहसं ज्ञायतां ततः॥ ३६॥
अर्जितुं विपुलामात्मशक्तिं तस्य कृते ध्रुवम्।
अपावृतमिवद्वारं पूर्णतो मंगलोन्मुखम्॥ ३७॥

टीका—कुसंस्कारों से लड़ने के प्रथम मोरचे पर जो जूझता है, उसे पशुस्तर के आदर्शहीन लोगों का अनुकरण करने, परामर्श अपनाने की तनिक भी इच्छा नहीं होती है। साधक को अपना लक्ष्य स्वयं निर्धारित करना पड़ता है और आत्मा तथा परमात्मा के दो साथियों को पर्याप्त मानकर उनके बताए हुए मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है। गए-गुजरे लोगों से जो प्रेरणा ग्रहण करते हैं, वे उन्हीं के जैसे क्षुद्र बन जाते हैं। अध्यात्मवादी आदर्श अपनाते हैं और असंख्यों को अनुकरण की प्रेरणा दे सकने वाला मार्ग दूरदर्शी, विवेकशीलता के आधार पर चयन करते हैं तथा इस मार्ग को आलस्यादि कारणों से भी कभी नहीं छोड़ते हैं। इस निजी परिकर के संघर्ष से ही वह आत्मविद्युत उत्पन्न होती है, जिनके सहारे अनेकानेक आश्चर्यजनक प्रयोजन पूरे किए जा सकें। मनोबल अनायास ही किसी को नहीं मिलता। उसे प्राप्त

करने के लिए अपनी आदतों से, तथाकथित स्वजनों द्वारा पड़ने वाले सिद्धांत रहित दबावों को अस्वीकार करने की हिम्मत पड़ गई तो समझना चाहिए कि उसके लिए अजस्र आत्मबल एकत्रित करने का मंगलमय द्वार पूर्णरूप से खुल गया है॥ २८-३७॥

घर्षणाज्जायते विद्युद् विदन्तीदं समेऽपि तु।
युद्ध्यते यः कुसंस्कारैः स्वजनैर्मन्दबुद्धिभिः॥ ३८॥
प्रमाथिभिस्तथा लोभैरोजस्वी स नरस्तथा।
मनस्वी कथ्यते लोके तेजस्वी वा नरैः सदा॥ ३९॥
आत्मशक्तिधनाः सन्ति नरास्ते वस्तुतस्तथा।
तदाश्रित्य च संव्याप्ता विभूतीः प्राप्तमन्ततः॥ ४०॥
अशुभानि निराकर्तुं समर्थास्ते भवन्त्यपि।
प्रयोजनद्वयं चात्मशक्तिः पूरयति स्वतः॥ ४१॥
वैभवार्जनमेवं च संकटानां विनाशनम्।
येनात्मतेजसा सिद्धेत्तद् ब्रह्माग्निरुदाहृतः॥ ४२॥
इदमेव तदूर्जस्तु यदाश्रित्यात्र संभवेत्।
प्रगतिर्भौतिकेऽध्यात्मक्षेत्रे लब्धिरनुत्तमा॥ ४३॥
एतादृशा जना स्वस्यां मार्गनावि विधाय च।
असंख्यानुपविष्टांस्तु प्रापयन्ति तटं परम्॥ ४४॥

टीका—सभी जानते हैं कि रगड़ से बिजली उत्पन्न होती है। अपने कुसंस्कारों से, मूढ़मति प्रियजनों से, आकर्षक प्रलोभनों से, जो लड़ सका, उसी को ओजस्वी, मनस्वी और तेजस्वी कहते हैं। ऐसे लोग आत्मबल के धनी बनते हैं और उसके सहारे संव्याप्त विभूतियों को खींचने तथा अशुभ, अनुपयुक्त को फेंकने में समर्थ

होते हैं। आत्मशक्ति यह दोनों ही प्रयोजन पूरे करती है। संकट को टालना और वैभव को बटोरना, जिस आत्मतेज के माध्यम से बन पड़ता है, उसे प्राणाग्नि या ब्रह्माग्नि कहते हैं। यही वह ऊर्जा है; जिसके सहारे भौतिक क्षेत्र में द्रुतगति से आगे बढ़ना और अध्यात्म-क्षेत्र में असाधारण ऊँचाई तक उठ जाना संभव होता है। ऐसे लोग अपनी नाव पर बैठाकर असंख्यों को इस किनारे से उस किनारे तक पहुँचाते हैं॥ ३८-४४॥

विलासाभिरता लुब्धा लिप्सा जलधिमज्जिताः।
येन-केन प्रकारेण कर्मकांडोपचारतः ॥ ४५॥
देवानात्मकृते तुष्टानिव कर्तुं कथञ्चन।
यतन्ते स्वार्थसिद्ध्यै चापात्रायै स्पृह्यन्त्यपि॥ ४६॥
सन्त्येवासफला मर्त्या निराशाश्चेदृशाः समे।
अध्यात्मनि कृता नैव सफला स्याद् विडंबना॥ ४७॥
लाञ्छितं साधनायास्तु तत्त्वज्ञानं हि कुर्वते।
गोपायन्ति स्वदुर्बुद्धिं नरा एतादृशा इह॥ ४८॥

टीका—विलासी, लालची, लिप्साओं में डूबे हुए व्यक्ति जिस-तिस प्रकार कर्मकांड उपचार के सहारे देवताओं को फुसलाने का प्रयत्न करते हैं और उनसे ऐसे स्वार्थ साधना चाहते हैं, जिनकी पात्रता नहीं है। ऐसे लोग सदा निराश और असफल रहते हैं। अध्यात्म के नाम पर अपनाई गई विडंबना कभी फलीभूत होती नहीं। ऐसे लोग ही साधना के तत्त्वज्ञान पर लांछन लगाकर अपनी दुर्बुद्धि छिपाते रहते हैं॥ ४५-४८॥

नारदो दर्शयामास विविधानां तपस्विनाम्।
कार्यक्षेत्राणि सिद्धानामर्जितो यैर्निधिर्महान्॥ ४९॥

दिव्यशक्तेः परिष्कारसाधनानि निजात्मनः।
कर्माण्यसंभवान्यन्यैर्हितान्या-चरितान्यपि ॥ ५० ॥
साफल्यानां विभूतीनां सम्पदां शक्तिरेव तु।
जननी, संग्रहो यस्याः पौरुषेणैव संभवेत्॥ ५१ ॥
आध्यात्मिकैस्तथैवैतन्निमित्तं संयमस्तपः ।
परार्थरतिरेतानि मतान्यावश्यकानि तु ॥ ५२ ॥

टीका—नारद जी ने ऐसे अनेक तपस्वी सिद्धपुरुषों के कार्यक्षेत्र दिखाए, जिनने आत्मपरिष्कार की साधना से दिव्यशक्ति का भंडार अर्जित किया और लोकहित के ऐसे काम कर दिखाए, जो सामान्य लोगों द्वारा, सामान्य परिस्थितियों में संभव नहीं होते। शक्ति ही संपदाओं, विभूतियों और सफलताओं की जननी है। उसका संग्रह आध्यात्मिक पुरुषार्थों द्वारा ही संभव होता है। इसके लिए संयम साधने, तप करने और परमार्थ में निरत रहने की आवश्यकता पड़ती है॥ ४९-५२ ॥

सुविधानां साधनानां साफल्यानां च संश्रयैः।
उल्लासं परमं यान्ति जनाः सर्वेऽपि संततम्॥ ५३ ॥
आधारमिममाश्रित्य साहसं कौशलं तथा।
स्वास्थ्यं मनोबलं तेषां वृद्धिं यान्ति क्रमादिह॥ ५४ ॥
अध्यात्मक्षेत्र-विज्ञानवेत्तारः श्रद्धया तथा।
विश्वासेनापि निर्मान्ति मनोभूमिं तथा यया॥ ५५ ॥
प्रसन्नता तथाऽऽनंदो यायातां वृद्धिमुत्तमाम्।
ब्रह्मानन्दं वदन्त्येनं सच्चिदानंदमप्यथ ॥ ५६ ॥
परमानंदमप्यत्रानुभूतीरीदृशीर्नहि ।
असाफल्यानि कुर्युश्च काठिन्यानीह पीडिताः॥ ५७ ॥

साधनेषु निजेष्वेव सीमितेषु परिग्रहम् ।
पालयन्तो व्रतं सर्वे स्थिरप्रज्ञस्तरं सुखम्॥ ५८॥
अनुभवन्ति च सन्तोषं गन्धेनेवास्य कुर्वते।
वातावरणमत्यर्थमुल्लासेनाभिपूरितम् ॥ ५९॥
असंख्याः प्राप्नुवन्त्यस्मादुत्साहं साहसं तथा।
आदर्शवादितामत्र स्वीकर्तुं जीवने स्वके॥ ६०॥

टीका—साधनों, सफलताओं और सुविधाओं के सहारे सभी प्रसन्न-उल्लसित होते हैं। इस आधार पर उनका स्वास्थ्य, साहस, कौशल और मनोबल भी बढ़ता है, पर अध्यात्म-क्षेत्र के विज्ञानी श्रद्धा-विश्वास के सहारे भी ऐसी मनोभूमि विनिर्मित कर लेते हैं, जिसमें प्रसन्नता और प्रफुल्लता की मात्रा अत्यधिक बढ़ सके। इस मन:स्थिति को परमानंद, ब्रह्मानंद, सच्चिदानंद आदि नाम दिए गए हैं। ऐसी अनुभूति वालों को सांसारिक कठिनाइयाँ और असफलताएँ भी व्यथित नहीं करतीं। सीमित साधनों में अपरिग्रह का व्रत पालते हुए ऐसे लोग स्थितप्रज्ञ स्तर के सुख-संतोष का अनुभव करते रहते हैं। प्रसन्न व्यक्ति अपनी अनुभूति की सुगंधि से वातावरण को उल्लसित किए रहते हैं। उससे असंख्यों को अपने जीवन में आदर्शवादिता अपनाने का साहस उत्साह मिलता है॥ ५३-६०॥

ब्रह्मचैतन्यमेतच्च विराड्विश्वं तु वर्तते।
तत्राहं भावसंन्यासमान्यतां संविधाय च॥ ६१॥
परिपक्वां व्रजेत्क्षुद्रः महत्तां साधकस्ततः।
सीमाबंधनगा लोभमोहाहंकार-चक्रगाः ॥ ६२॥
श्चोतयन्ति रसं सर्वे जीवनस्यात्र संपदः ।
तीव्रलिप्सा कुचक्रे च हापयन्तीशकृत्स्थितिम्॥ ६३॥

श्लथताया निराशायाः क्षोभताया अथापि च।
अतिरिक्तं च पापान्न लभ्यते किमपि क्वचित्॥ ६४॥
परमाध्यात्मिकं दृष्टिकोणं ये तूत्तमं नराः।
स्वीकृत्यात्मनि सर्वांश्च सर्वेष्वात्मानमप्यथ॥ ६५॥
द्रष्टुं जाताः समर्थास्तु सर्वं पश्यन्ति ते स्वकम्।
अनुभवन्ति धनं लब्धं सममिन्द्रकुबेरयोः॥ ६६॥

टीका—विराट विश्व की ब्रह्मचेतना में अपने आपे का समर्पण करने की मान्यता परिपक्व करके साधक क्षुद्र से महान बनता है। सीमा के बंधनों से जकड़े हुए लोग मात्र लोभ, मोह, अहंकार के कुचक्र में पिलते हुए जीवनसंपदा का सारा रस निचोड़ डालते हैं और न बुझने वाली लिप्सा के कुचक्र में ईश्वरप्रदत्त सुयोग को बुरी तरह गँवा बैठते हैं। थकान, निराशा, खीज और पाप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता, किंतु जिनने अध्यात्मवादी उदात्त दृष्टिकोण अपनाकर अपने में सबको और सबमें अपने को देखना सीख लिया उन्हें सब कुछ अपना ही दीखता है और इंद्र-कुवेर जैसे वैभव प्राप्त कर लेने जैसा अनुभव होता है॥ ६१-६६॥

एकमस्तीश्वरस्येह दर्शनस्य तु वस्तुतः।
स्वरूपं विश्वमेतत्तु पश्येत्तस्मिन् परात्मनि॥ ६७॥
ओतप्रोतं तथोद्यानं कर्तुं विकसितं श्रयेत्।
पौरुषं मुदितः स्याच्च तस्य सामीप्यो नरः॥ ६८॥
मनःस्थितौ तथेदृश्यां व्यक्तेश्चिन्तनमप्यथ।
प्रयासा लोककल्याण निरतास्ते भवन्ति हि॥ ६९॥
आत्मार्पणेन तस्मै च साधका विन्दु-सिंधुवत्।
स्फुलिंगाग्निसमस्तेन विराजैकत्वमाप्नुयात्॥ ७०॥

विराजं ब्रह्म मत्वा च विश्वं श्रद्धायुतेन तु।
चेतसा तस्य सेवायां लग्नता भक्तिरुत्तमा॥ ७१॥
भक्ता एवं विधा नित्यमीशसान्निध्यजं समे।
लभन्ते परममानंदमनुकम्प्याः प्रभोश्च ते ॥ ७२॥
एकता भगवतोऽत्यर्थं भक्तस्यातश्च संभवेत्।
निजं भक्तस्य किञ्चिन्न शिष्यते तत्र चेश्वरः॥ ७३॥
समाविष्टो भवत्येव पृथक्त्वं तत्तथैव च।
वैमुख्यं तिष्ठतस्तावद् यावल्लिप्सोन्मदो नरः॥ ७४॥
ईश्वरेच्छैव स्वेच्छा च यदा संजायते तदा ।
शिष्यते कामनानैव याच्ञाया न स्थितिः क्वचित्॥ ७५॥
पूर्णता लक्ष्यसंप्राप्तिरस्यामेव मनः स्थितौ ।
जायते प्राणिषु ब्रह्मावेशस्तत्प्रभुदर्शनम् ॥ ७६॥

टीका—ईश्वर दर्शन का एक ही वास्तविक स्वरूप है। इस संसार को ईश्वर से ओत-प्रोत देखना और विश्व उद्यान को सुविकसित बनाने के लिए पुरुषार्थ कर उसकी निकटता का आनंद लेना। ऐसी मनःस्थिति में व्यक्ति का चिंतन और प्रयास मात्र लोक-मंगल में ही निरत रहता है। ईश्वर को आत्मसमर्पण करने पर साधक बिंदु-सिंधु की तरह, आग-चिनगारी की तरह उस विराटसत्ता से तादात्म्य एकाकार हो जाता है। विश्व को विराट ब्रह्म मानकर उसकी सेवा-साधना में श्रद्धापूर्वक जुट जाना सच्ची भक्ति है। ऐसे भक्तजन निरंतर ईश्वर-सान्निध्य का आनंद लाभ करते हैं। उन पर ईश्वर की अनुकंपा निरंतर बरसती है। भक्त और भगवान की एकता-एकात्मता इसीलिए बनती है कि भक्त का अपना कुछ रहता ही नहीं तो उस खालीपन में भगवान का भर जाना स्वाभाविक है। पृथकता और विमुखता तभी

तक रहती है, जब तक ललक-लिप्सा का उन्माद चढ़ा रहता है। जब भगवान की इच्छा ही अपनी इच्छा बन गई तो फिर न कुछ कामना रहती है, न याचना की आवश्यकता पड़ती है। पूर्णता का लक्ष्य इसी मनःस्थिति में प्राप्त होता है। भगवान का दर्शन, सब में ब्रह्मसत्ता का समावेश देखना है॥ ६७-७६ ॥

सेवा सा साधना चैव भक्तिरत्रोच्यते तथा ।
उदातोदृष्टिकोणश्च स्वर्ग एव न संशयः॥ ७७ ॥
अहंकारस्य लोभस्य मोहस्य त्रिविधं च यत्।
भवबंधनमेतस्मान्मोचनं मुक्तिरुच्यते ॥ ७८ ॥
इच्छायां भगवतोऽथापि व्यवस्थायां निजस्य च।
तत्परत्वं च विद्वद्भिः प्रोक्ता लोक उपासना॥ ७९ ॥
संस्कारपद्धतौ स्वस्य जीवनस्य गतिश्च सा।
उच्यते साधनेशस्य मित्रं नो शत्रुरेव वा॥ ८० ॥
नोपहारं स्तुतिं वा स वाञ्छतीह तु कस्यचित्।
तस्य नावश्यकं चैतद् विद्यते परमात्मनः ॥ ८१ ॥
न निजो न परस्तस्य न शत्रुर्मित्रमेव वा।
अस्ति वास्तविकं रूपं पूजायाः श्रमसीकरैः॥ ८२ ॥
विश्वोद्यानस्य तस्यालं सिञ्चनं श्रेष्ठता विधेः।
बीजारोपणमादर्शवादिता वृद्धिरत्र च॥ ८३ ॥

टीका—'भक्ति' सेवा-साधना को कहते हैं। उदात्त दृष्टिकोण का नाम 'स्वर्ग' है। लोभ-मोह-अंधकार के त्रिविध भवबंधनों से छुटकारा पाने का नाम 'मुक्ति' है। भगवान की इच्छा और व्यवस्था में अपने आपको खपा देना 'उपासना' है। साधना का अर्थ है, जीवन

को सुसंस्कारिता के ढाँचे में ढाल लेना। ईश्वर का न कोई मित्र है, न कोई शत्रु। उन्हें किसी का उपहार-मनुहार नहीं चाहिए। इसकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं है। न उनका कोई अपना है, न पराया। न मित्र है, न शत्रु। 'पूजा' का वास्तविक स्वरूप है, भगवान के विश्व उद्यान को श्रमसीकरों से सींचना और उसमें उत्कृष्टता का बीजारोपण, आदर्शवादिता का अभिवर्द्धन करना॥ ७७-८३॥

आत्मनः शोधने लग्नाः परमार्थे रताश्च ये।
पुरुषास्ते मता लोके वस्तुतो भक्तसत्तमाः ॥८४॥
वरदानांश्च तान् सर्वान् प्राप्नुवन्त्यपि ते सदा।
अनादिकालाद् भक्ता यान् योगिनोऽथ तपस्विनः ॥८५॥
महात्मानश्च विप्रास्ते प्रापुरस्या न ते जनाः।
अधिकारिणि आहुर्ये व्यवहारेण सन्त्यथ ॥८६॥
चिन्तनेन चरित्रेण निकृष्टाः स्वार्थपूरकम् ।
मंत्रतंत्र-क्रियाभिस्तं वश्यं वाञ्छन्ति पूजया ॥८७॥
दिग्भ्रांतानां नृणां नैव न्यूनता क्वचनास्ति सा।
बहवोऽध्यात्ममार्गेऽपि भ्रांताः सन्ति नरा इह॥८८॥
हेयं जीवन्ति स्वार्थाय दैवीः शक्तीरिह स्वयम्।
उपयोक्तुं दिवास्वप्नं पश्यन्ति प्राय एव च ॥८९॥
ऋषयो बहवश्चात्र हिमाद्रेः क्षेत्र उत्तमे।
वसन्तः सत्यभक्तानामिव संस्कारसंयुताम् ॥९०॥
चक्रुर्जीवनचर्यां च प्रापुरस्माच्च संततम्।
भगवतश्चानुकम्पां ते दिव्या मंगलसंयुताम्॥९१॥

एतादृशा इह प्रोक्ता ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः।
कृतकृत्याश्च ते जाता सर्वतः सन्ततं स्वतः॥९२॥
तेषां शरणमायाता ऋद्धयः सिद्धयोऽपि च।
धन्यास्ते पूर्णतो जाता जीवने च निजे शुभे॥९३॥

टीका—आत्मशोधन और परमार्थ में निरत व्यक्ति ही सच्चे भक्त माने जाते हैं और वे ही उन वरदानों को प्राप्त करते हैं, जो अनादिकाल से समय-समय पर भगवद्भक्तों, योगी-तपस्वियों, संत-ब्राह्मणों को मिलते रहे हैं। इस अनुकंपा के अधिकारी वे नहीं बन सकते। जिनका चिंतन-चरित्र और व्यवहार तो निकृष्ट स्तर का है, पर पूजा-अर्चा, तंत्र-मंत्र और क्रिया-कृत्यों के बदले दिव्यसत्ता को वशवर्ती बनाना और भले-बुरे मनोरथ पूरे कराना चाहते हैं। दिग्भ्रांतों की किसी क्षेत्र में कमी नहीं। अध्यात्म-क्षेत्र में भी ऐसे भटके लोग बहुत हैं, जो हेय जीवन जीते और स्वार्थपूर्ति के लिए दैवी शक्ति का उपयोग करने के दिवास्वप्न देखते हैं। अनेक ऋषिगणों ने पावन हिमालय-क्षेत्र में निवास करते हुए सच्चे भक्तों जैसी जीवनचर्या बनाई और बदले में भगवान की अजस्र अनुकंपा पाई। ऐसे तत्त्वदर्शी तपस्वी ही ऋषि कहाए और हर दृष्टि से कृतकृत्य हुए ऋद्धि-सिद्धियों ने उनके चरण चूमे। वे अपने जीवन में धन्य हो गए॥ ८४-९३॥

प्रवासोऽद्यतनश्चायं व्यतीतश्चर्चयाऽनया।
ऋषीणामाश्रमांस्तत्र सर्वेषां पश्यतां ततः॥९४॥
नवीना अपि यत्रैव मिलिता मुनयोऽथ च।
मनीषिणोऽपि यात्रायां सश्रद्धं प्रणमच्च तान्॥९५॥
सौहार्दं चार्पयत्तत्र ततोऽग्रेऽगाच्च मंडलम्।
सायं समय आयाते यातुमग्रेतमस्यथ॥९६॥

कठिनं प्रविचार्यैव मण्डलं पूर्ववत्ततः ।
विश्रमं संनियोज्यैव सुखं रात्र्यतिवाहिता ॥ ९७ ॥

टीका—आज का प्रवाह इस चर्चा के साथ ऋषि-आश्रमों के पुरातन स्थान देखते हुए व्यतीत हो गया। जहाँ-तहाँ अर्वाचीन मुनि-मनीषी भी इस यात्रा प्रसंग में मिले, उन सबको नमन करती और श्रद्धा-सौहार्द्र प्रस्तुत करती हुई मंडली आगे बढ़ती रही। सायंकाल होने पर रात्रि के अंधकार में आगे चलना कठिन देखकर मंडली ने नित्य की तरह विश्राम का सुयोग बैठा लिया और आनंदपूर्वक रात्रि बिताई ॥ ९४-९७ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देव संस्कृति खंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
महर्षि नारद प्रतिपादिते 'आत्मशोधन' इति प्रकरणो नाम
॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

ऋषिपरंपरा पुनर्जीवन प्रकरण

दिवसोऽन्त्यः प्रवासस्य सोऽद्याभून्मुनिमंडलम्।
सप्ताहमवधिं कृत्वा पर्यवेक्षणयोजनाम् ॥ १ ॥
हिमाद्रेः प्रविधायैतत्क्षेत्रगौरवगानि तु ।
कारणानि परिज्ञातुं निर्गतं सोत्सुकं ततः ॥ २ ॥
नारदस्य बहुज्ञत्वकारणाल्लब्धमेव च ।
एभिरेतन्निजं सर्वमीप्सितं ज्ञानवर्द्धकम् ॥ ३ ॥
सामान्यास्ते जनास्त्वेनं हिमाद्रिं प्रोच्चमुज्ज्वलम्।
कठोरं सजलं किं वा हिमाच्छादितमुत्तमम् ॥ ४ ॥

हरितं पार्श्वभागेषु प्रकृतेः सुषमायुतम् ।
मेनिरे द्रष्टुमायान्ति यं तु कौतुकपूर्तये ॥ ५ ॥
परिवर्तनजं लाभं प्राप्य यान्ति स्म ते गृहान् ।
परं मंडलमेतत्तु दृष्टिं भिन्नां व्यधान्निजाम् ॥ ६ ॥
उल्लासोऽतः प्रकाशश्च प्राप्तौ नव्यस्तरावपि ।
ज्ञातं तैः कथमेतस्य भारतस्य जगत्यलम् ॥ ७ ॥
भारते च हिमाद्रेस्तद् गौरवं विद्यते महत् ।
यस्माद्धेतोर्वदन्त्येनं भारतं तु जगद्गुरुम् ॥ ८ ॥
इदं सर्वमहर्षीणां व्यक्तित्वेनोच्चतां गतैः ।
क्रियाविधिभिरेवात्र जातं संभवमन्ततः ॥ ९ ॥
अन्यथाभूमिखंडानि न्यूनाधिकतया भुवि ।
समानानि हि सर्वत्र विद्यंते तानि तानि तु ॥ १० ॥

टीका—आज प्रवास का अंतिम दिन था। एक सप्ताह के लिए हिमालय पर्यवेक्षण की योजना बनाकर मनीषी-मंडली इस क्षेत्र की गरिमा के आधारभूत कारणों को खोजने चली थी। नारद जी की बहुज्ञता ने उन सभी को अपने ईप्सित की यह उपलब्धि करा दी, जो ज्ञानवर्द्धक सिद्ध हुई। सामान्यजनों को हिमालय ऊँचा, उज्ज्वल, हिमाच्छादित, कठोर, सजल, बढ़िया, हरीतिमा संपन्न, मात्र प्रकृति शोभा-सज्जाओं से भरा-पूरा शोभायमान ही लगता था। उसे देखने लोग कुतूहल पूर्ति भर के लिए आते थे और परिवर्तन का लाभ लेकर वापस चले जाते थे, पर इस प्रवासी मंडली ने दृष्टिकोण भिन्न रखा। तदनुरूप प्रकाश-उल्लास भी नए स्तर का पाया। उनने जाना कि विश्व भर में भारत की और भारत भर में हिमालय की गरिमा किस कारण है, यह वही कारण है, जिससे भारत जगद्गुरु कहलाया। यह

सब ऋषियों के महान व्यक्तित्वों और उनके उच्चस्तरीय क्रिया-कृत्यों के कारण ही संभव हुआ है, अन्यथा भूमिखंड तो न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र एक जैसे ही हैं॥ १-१०॥

मनुष्येष्वपि चाकृत्या निर्मित्या वपुषोऽथवा।
नैव कश्चिन्महान् भेदो जायते दृष्टिगोचरः ॥ ११॥
तेषु भेदो महान् योऽसौ लभ्यते तस्य कारणम्।
सद्भावस्य संस्कारः केवलं विद्यते त्वयम्॥ १२॥
स यत्रैव यावांश्च जायतेऽधिक एव तु।
औत्कृष्ट्यं तावदेवासावुत्पादयति तत्र च॥ १३॥
दृष्टिगोचरतां याति तावती चोपयोगिता।
तत्र तत्र तथा लोकश्रद्धाऽप्येषाऽभिवर्षति ॥ १४॥
धन्यतां ये गताश्चान्यान् धन्यान् येऽकार्षुरत्र तु।
रहस्यं चेदृशां नृणां स्थानानां गुप्तमस्त्यदः॥ १५॥
तथ्यमेतच्च विज्ञातुं यतन्ते ये च कुर्वते।
मार्गदर्शनमस्त्येषां प्रवासः सार्थकस्त्वयम् ॥ १६॥
अन्ये मृगकपोतानां गणा इव दिशो दश।
मनोविनोदहेतोस्तु प्रधावन्त निरंतरम् ॥ १७॥
शाखामृग समास्ते च शाखाभ्योऽन्या निरंतरम्।
समाश्रयन्ति शाखास्तु श्रमकालविनाशकाः॥ १८॥

टीका—मनुष्यों के बीच भी आकृति एवं शरीर सरंचना की दृष्टि से कोई बड़ा अंतर नहीं है, फिर उनके बीच जमीन-आसमान जैसा जो अंतर पाया जाता है, उसका एकमात्र कारण सदाशयता का पुट लगना ही है। वह जहाँ जितनी मात्रा में अधिक होता है, वहाँ उतनी ही उत्कृष्टता

उत्पन्न करता है, वहाँ उतनी ही उपयोगिता भी दृष्टिगोचर होती है। तदनुरूप लोकश्रद्धा भी उतनी ही बरसती है। धन्य बनने और बनाने वाले व्यक्तियों तथा स्थानों के पीछे यही रहस्य छिपा रहता है, जो इस तथ्य को समझने का प्रयत्न करते हैं, उन्हीं का प्रवास-पर्यटन सार्थक होता है। अन्य लोग तो हिरन-कबूतरों की तरह मन बहलाव के लिए इधर-उधर दौड़ लगाते रहते हैं। बंदरों की तरह इस डाली से उस डाली पर उचकने-मचकने वाले अपने समय-श्रम को जिस-तिस प्रकार बिताते भर रहते हैं॥ ११-१८॥

प्रवासस्य श्रमो विज्ञवर्गस्याभूत्तु सार्थकः।
यतस्तैर्दृष्टिरादत्ता दिव्या वैज्ञानिकी बुधैः॥ १९॥
ज्ञातुं दृश्यंगतान्यत्र तथ्यान्युच्चस्तराणि तु।
अकार्षुरिदमेवात्र तत्त्वदर्शिन उत्तमाः॥ २०॥
कृष्णांगार समादस्मात्संसाराद् बहुमूल्यकान्।
लभन्ते हीरकान् क्षारात् समुदात्ते यथा सदा॥ २१॥
मज्जका गहने गत्वालभन्ते मणिमौक्तिकम्।
प्रतिभैव नरानुच्चान् कुरुते सूक्ष्मदृष्टितः॥ २२॥
नेत्राभ्यां दृश्यते यत्तु तदेवास्तीतिवादिनः।
इंद्रियप्रियवस्तूनामनुगन्तार एव ये॥ २३॥
नरास्ते पशुभिस्तुल्यं जीवन्तीह तथाऽन्ततः।
पश्चात्तापभराक्रांता रिक्तहस्ताः प्रयान्त्यतः॥ २४॥
विचारेणाद्य चैतेन दिने संपूर्ण एव तु।
स्थित्वैकस्मिंस्तु देशे तन्मण्डलं निश्चयं व्यधात्॥ २५॥
यद् दृष्टं तु तदाश्रित्य निर्मेयं किमपि स्वयम्।
परित्यज्य प्रवासं तु ज्ञानगोष्ठी सुयोजिता॥ २६॥

संगमेऽलकनन्दाया भागीरथ्याः स्थिते शुभे।
देवप्रयागतीर्थे ते शिलाखण्डं समाश्रिताः ॥ २७ ॥
विचारे संनिमग्नास्ते शोभामापुर्यथा दिवि।
सप्तर्षिमण्डलं रात्रौ वैशिष्ट्यं द्योतयत्यलम् ॥ २८ ॥

टीका—इस विज्ञ समुदाय का प्रवास श्रम सार्थक हुआ, क्योंकि उनने दृश्य के पीछे छिपे हुए तथ्यों को समझने की वैज्ञानिक दृष्टि अपनाई। तत्त्वदर्शी यही करते रहे हैं और इस कोयले की खदान जैसे कुरूप संसार में से बहुमूल्य हीरक उपलब्ध करते रहे हैं। खारी समुद्र में से गोताखोर ही गहरी डुबकी लगाते और मणिमुक्तकों बटोरते हैं। सूक्ष्मदृष्टि में प्रतिभा ही मनुष्य को ऊँचा उठाती, आगे बढ़ाती है। जो दीखता है, उसी को सब कुछ मान बैठने वाले और जो इंद्रियों को प्रिय है, उसी के पीछे दौड़ने वाले व्यक्ति नर-पशुओं जैसा जीवन बिताते और अंततः पश्चात्ताप का पोटला सिर पर लाद कर हाथ मलते हुए इस संसार से विदा होते हैं। इस विचारणा के साथ आज का दिन मंडली ने एक स्थान पर बैठकर जो देखा, उसके आधार पर किसी निर्णय-निष्कर्ष तक पहुँचने का निश्चय किया। सो प्रवास स्थगित रखकर ज्ञानगोष्ठी की योजना बनाई गई। अलकनंदा और भागीरथी के संगम पर बसे हुए देवप्रयाग के एक सुरम्य शिलाखंड पर बैठकर वे लोग विचार मग्न हो गए। वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो आकाश में रात्रि के समय सप्तऋषि मंडल प्रकाशवान होकर अपनी विशिष्टता का परिचय दे रहे हों॥ १९-२८॥

मंडलस्य सदस्यास्ते कृतवन्तः स्वकां ततः।
जिज्ञासां भगवन् सोऽयं हिमाद्रिः संस्कृतिश्च सा ॥ २९ ॥
नरा अपि तथा चैव स्थितावेव तिरोहिता।
पुण्यालोकहिता श्रद्धायुतैषर्षि-परंपरा ॥ ३० ॥

पूर्वस्मिन् समयेत्वल्पा ऋषयो दिव्यतेजसः।
भारतस्य समस्तस्य विश्वस्यापि निरंतरम्॥ ३१॥
मर्त्यगौरवजं पुण्यमौत्कृष्ट्यं स्थापितं व्यधुः।
वर्द्धिताश्चक्रुरेषोऽद्य समाप्तो वर्ग एव तु॥ ३२॥
तथावेषधरामर्त्यास्तदाडंबरकारिणः ।
संतो लक्षाधिका दृष्ट्या पौरुषेण तथैव च ॥ ३३॥
चरित्रेण तथा नैव सन्ति चैवं स्थितावयम्।
हिमगिरेर्दृश्यभागस्तु दुर्गतो ध्वंसदुःखतः ॥ ३४॥
शोभायां विद्यमानायामपि तद्गौरवस्य सः।
निर्माता मुख्य आधारो मृग्यते नैव मार्गणात्॥ ३५॥
देवास्य कारणं ब्रूतां निवारणमपि प्रभो।
मनोऽस्माकं व्यथाव्याप्तं ग्लान्या भारायितं तथा॥ ३६॥

टीका—मंडल के सदस्यों ने पूछा—भगवन् ! हिमालय वही है, संस्कृति का अस्तित्व भी है, मनुष्य भी वैसे ही है, इतने पर भी अब लोक हितैषिणी श्रद्धेय ऋषिपरंपरा तिरोहित कैसे हो गई ? पूर्वकाल में मुट्ठी भर ऋषि ही इस देश की, समस्त संसार की, मानवी गरिमा की उत्कृष्टता बनाते और बढ़ाते रहते थे, पर अब तो वह वर्ग एक प्रकार से समाप्त हुआ जैसा ही लगता है। वैसा वेश और आडंबर बनाने वाले लाखों की संख्या में रहते हुए भी न वैसा दृष्टिकोण है, न चरित्र, न पुरुषार्थ। ऐसी दशा में हिमालय का दृश्यमान कलेवर भी ध्वसांवशेष की तरह दुखी दुर्गतिग्रस्त हो रहा है। प्रत्यक्ष शोभा बनी रहने पर भी उसकी गरिमा बनाए रहने वाला आधार कहीं खोजे नहीं मिलता। हे देव ! इसका कारण और निवारण बताने की कृपा करें। हम सबका मन ग्लानि से बोझिल और व्यथित हो रहा है॥ २९-३६॥

नारद उवाच—

भद्राः परणतिस्त्वेषा स्थूलदृष्टेर्हि वर्तते।
तथ्यान्वेषकरी बुद्धिर्दुर्बला जायते ततः॥ ३७॥
बाह्यं कलेवरं मत्वा सर्वस्वं पुरुषा अथ ।
अंधानुसरणेनैवमुपहासं व्रजन्ति च ॥ ३८॥
स्वयं भ्रान्ता भवन्त्येवमसंख्यान् भ्रामयन्त्यपि।
भ्रान्ता विन्दन्त्यनर्थं च जानन्त्ये तत्समेऽपि तु॥ ३९॥
अन्यक्षेत्रमिवैषाऽपि दुर्गतिं भजते पराम्।
शोच्या, पुण्यतमा लोक इयमृषिपरंपरा ॥ ४०॥
बल्कलैर्वसनैरत्र हिमाद्रावृषयः पुरा ।
कुर्वते कार्यसिद्धिं ते गैरिकांबरधारणात् ॥ ४१॥
तथा वेषोऽधुना मर्त्यैः स्वीकृतः शीतवारणम्।
तदा वन्यैरकार्षुश्च दारुभिः कृष्णवर्त्मगैः॥ ४२॥
निर्गतं भस्मगात्रे ते लेपने चोपयुञ्जते ।
शीतोष्णसहने ऽनेन सारल्यं जायते स्म च॥ ४३॥
नाधुना सुलभान्येव दारुण्येवं न चाधुना।
वस्त्राणां न्यूनतास्तीह तथाप्यत्र तु साधवः॥ ४४॥
छायाग्राहितया तस्य चलनस्य तु कुर्वते।
अंधानुसरणं तेऽद्य विचारेण विनैव तु ॥ ४५॥

टीका—नारद बोले—हे भद्रजनो! यह स्थूलदृष्टि का परिणाम है। जब तथ्यान्वेषी बुद्धि पार कर जाती है, तब मनुष्य मात्र बहिरंग कलेवर को ही सब कुछ मान बैठते हैं और अंधानुकरण करके उपहासास्पद बनते हैं, स्वयं भ्रमित होते और असंख्यों को भ्रम में

डालते हैं। भ्रमित जनों के पल्ले अनर्थ ही पड़ता है, इसे सभी जानते हैं। वैसी ही दुर्गति अन्य क्षेत्रों की तरह पवित्र ऋषिपरंपरा की भी रही है। कभी ऋषियों को हिमालय-क्षेत्र में उपलब्ध वल्कल वस्त्रों से काम चलाना पड़ता था। अब उसकी चिह्नपूजा के लिए गेरुए वस्त्र पहन कर वैसा ही स्वरूप बनाया जाता है। उन दिनों शीत निवारण के लिए वनक्षेत्र में विपुल मात्रा में लकड़ी रहती थी। उसे साफ करने और शीत निवारण के लिए वे उसे धूनी के रूप में जलाते रहते थे। निकलने वाली भस्म को शरीर पर लपेटते थे, इससे गरमी-सरदी का सहन कर पाना सुगम हो जाता था, पर अब न तो लकड़ी सुलभ है और न वस्त्रों का अभाव फिर भी तथाकथित साधु जन लकीर पीटने के लिए उसी प्रचलन का विचारे अंधानुकरण करते हैं॥ ३७-४५॥

नारिकेलस्य तुम्ब्याश्च जलपात्राणि चाञ्जसा।
सुलभानि तदाऽभूवन्न परिग्रहपाणि तु॥ ४६॥
पात्रेषु चाल्पमूल्येन प्राप्तव्येष्वपि तेष्वलम्।
आग्रहः क्रियते नैतत्समयानुमतं नृणाम्॥ ४७॥
अग्निं व्यवस्थितं कर्तुं सन्देशोऽपेक्ष्यते तथा।
छेत्तुं गुल्मादिकं तत्र कुठारोऽपेक्ष्यतां गतः॥ ४८॥
अस्त्रतां गच्छति क्वापि तथावश्यकता विधेः।
तथा स्थिता वसत्यां ते धारयन्त्यद्य तानि च॥ ४९॥
स्वयं मृतानां वन्यानां पशूनां तूपयुञ्जते।
चर्म ते चासनस्थाने परं हत्वाऽद्य तान् पशून्॥ ५०॥
चर्मप्राप्तौ विशुद्धत्वं कुतस्तद् विद्यते तथा।
पुराणे समये चाति विशिष्टान्वेषणेच्छया॥ ५१॥

अभ्यासार्थमिहैकांतवनानां भवति स्म सा।
इहावश्यकता लभ्या जाताश्चास्मै गुहास्तदा॥ ५२॥
परमद्य तथा शोध-प्रयोजनमृतेऽपि तु ।
वातपूर्णकुटीनां च व्ययेऽल्पेऽधिगतावपि ॥ ५३॥
गुहा निर्मान्ति व्यर्थं च तत्र ते च दिवानिशम्।
बिलेशया इव स्थित्वा समयं नाशयन्त्यलम्॥ ५४॥
विना कारणमत्रैव तदावरणनिर्मितिः ।
उदरंभरितामात्रं बालबुद्धिरथास्ति वा ॥ ५५॥

टीका—उन दिनों तूँबा और नारियल के जलपात्र वन क्षेत्र में सहज उपलब्ध होते थे। अस्तु, वे अपरिग्रह के चिह्न थे, किंतु आज बरतन सस्ते और सुविधाजनक होने पर भी उन्हीं वस्तुओं के लिए आग्रह रखा जाना समय के अनुकूल नहीं है। अग्नि सँभालने के लिए बड़ा-सा चिमटा झाड़ियाँ साफ करने के लिए, कुल्हाड़ी नित्य की आवश्यकता पूरी करती थी। वह आवश्यकतानुसार अस्त्र का भी काम करती थी, पर आज वैसी परिस्थिति न होने पर भी लोग इन उपकरणों को धारण किए फिरते हैं। वन प्रदेश में अपनी मौत मरने वाले पशुओं का चर्म आसन आदि के काम आता था, किंतु अब हत्या करके उन्हें प्राप्त किए जाने पर शुद्धता कहाँ रही? पुराने समय में अति महत्त्वपूर्ण अन्वेषण-अभ्यास के लिए एकांत वन की आवश्यकता पड़ती थी, इसके लिए पर्वतीय गुफाएँ सहज उपलब्ध थीं, पर अब वैसा शोध-प्रयोजन सामने न रहने पर भी हवादार झोंपड़े सस्ते पड़ने पर भी लोग गुफा बनाते और उनमें अजगर की तरह निरर्थक समय नष्ट करते हुए पड़े रहते हैं। साधन न होने पर आवरण बनाना बालबुद्धि का चिह्न या उदरपूर्ति मात्र का साधन माना जाएगा॥ ४६-५५॥

परिस्थित्यनुरूपेण निर्धारणमथापि वा ।
परिवर्तनमस्त्येव बुद्धिमत्तादि लक्षणम् ॥ ५६ ॥
अदूरदर्शिताभावक्रमेऽन्धानुगतेस्तु ताः ।
गृह्यन्ते मान्यतामूढभावपुष्टा नरैः सदा ॥ ५७ ॥
मूढा परंपराणां तु कुर्वते ते दुराग्रहम् ।
आहुः प्रचलनान्येव कुरीतीर्यानि चान्ततः ॥ ५८ ॥
उपहासास्पदान्येवं मर्त्यहानिकराण्यपि ।
सिद्धत्येतानि संत्यक्तुं चलन्त्यान्दोलनान्यपि ॥ ५९ ॥
सामान्यानां नृणामेव स्थितिश्चेत्संचलेदिह ।
परंपरायां दिव्यायामृषीणामपि तत्तदा ॥ ६० ॥
दुर्भाग्यविषयो नूनं वक्तव्यः स्याद् बुधैः समैः ।
अद्य दुर्भाग्यगर्तेऽस्मिन् मज्जत्येषा परंपरा ॥ ६१ ॥
हिमाद्रिक्षेत्रमेतच्चाऽभावेऽस्य जायतेऽधुना ।
तेजो रहितमत्यर्थं सर्पो लुप्तमणिर्यथा ॥ ६२ ॥
तस्मिन् क्षेत्रे समस्तेऽपि बाह्यं सौन्दर्यमुत्तमम् ।
प्रकृतेस्तु तथैवैतद् विद्यते परमस्य ते ॥ ६३ ॥
प्राणाः क्षीणा इवाद्याभूद् येषां हेतोश्च गौरवम् ।
स्वर्गोपमं सहैवास्य तेजस्वित्वेन हन्त ते ॥ ६४ ॥

टीका—परिस्थिति के अनुरूप निर्धारण एवं परिवर्तन करते रहना बुद्धिमत्ता का चिह्न है, पर अदूरदर्शिता का, दौर चढ़ने पर तो अंधानुकरण की मूढ़मान्यताएँ ही अपनाई जाने लगती हैं। मूढ़मति लोग परंपराओं का दुराग्रह करते हैं। ऐसे प्रचलन ही कुरीतियाँ कहलाते, उपहासास्पद और हानिकारक ठहरते हैं। उन्हें बदलने के लिए सुधार

आंदालन भी चलते हैं। सामान्य जनों की भाँति यदि ऋषिपरंपरा के संबंध में भी वैसी ही विडंबना चल पड़े तो उसे दुर्भाग्य का विषय माना जाएगा। आज इस दुर्भाग्य के गर्त में ही ऋषिपरंपरा समाती चली जा रही है। अस्तु, हिमालय-क्षेत्र इस अभाव में मणिविहीन सर्प की तरह निस्तेज होता चला जा रहा है। उसमें प्रकृति शोभा-सौंदर्य का बाह्य कलेवर तो यथावत् बना हुआ है, पर वह प्राण क्षीण हो चला, जिसके कारण उसकी तेजस्विता और गरिमा कभी स्वर्गोपम बनी हुई थी॥ ५६-६४॥

निस्तेजस्त्वविधेर्हेतुमस्याजानन् समेऽपि ते।
विडम्बनास्थितिं दिव्यां समाप्यर्षि परंपराम्॥ ६५॥
दुःखमापुरथैतस्मिन्नवसादे समेऽपि ते।
नारदं पृष्टवन्तस्ते विधिं च सरलं शुभम्॥ ६६॥
दुर्गतेरन्त एतस्याः कथं स्यात् परिवर्तनम्।
शोधकार्यं दिनेष्वत्र स्यातां किं निकटेष्वपि॥ ६७॥
देवसंस्कृतिरेषोक्ता लोकेऽस्मिन्नजराऽमरा।
तत्तस्या दुर्गतिं दूरीकर्तुं मृग्यो विधिर्नवः॥ ६८॥
निराशा नैव संचित्या जीर्णता समुपैत्यपि।
न स्थिता सृज्यतेऽस्यास्तु स्थाने नव्योविधिः पुनः॥ ६९॥
वृद्धारुग्णामशक्तां च स्थितिं यान्त्यथ तद्वपुः।
तेषां प्रकृतिरादाय ददात्यन्यद् भवान्तरे॥ ७०॥
उपसंहारमेत्येष मध्याह्नान्ते तु भास्करः।
अन्तेऽस्ताचलमभ्येति क्रमः प्राकृतिकस्त्वयम्॥ ७१॥
परमस्मात्समुत्पन्नो नान्धकारोऽत्र तिष्ठति।
सदा प्राभातिकस्तं च नाशयत्यरुणोदयः॥ ७२॥

टीका—हिमालय-क्षेत्र की निस्तेजता का कारण ऋषिपरंपरा का अवसान और उसके स्थान पर विडंबना का ठाट-बाट के साथ विराजमान हो जाना मंडली के सभी सदस्यों ने जाना। इस अवसाद पर दुःख मनाया। साथ ही नारद जी से पूछा— इस दुर्गति का अंत कैसे होगा? उसमें सुधार, परिवर्तन के लिए क्या कुछ अगले दिनों बन पड़ेगा? देव संस्कृति को अजर-अमर माना जाता रहा है, तब फिर उसकी दुर्दशा को दूर करने का कोई नया उपाय भी बनना चाहिए। नारद जी ने कहा—निराश होने की कोई बात नहीं। जीर्णता आती तो है, पर वह स्थिर नहीं रहती। उसके स्थान पर नवसृजन का भी विधि-विधान है। वृद्ध जन अशक्त और रुग्ण स्थिति में जा पहुँचते हैं तो प्रकृति उनका वह कलेवर छीन लेती है और नया जन्म देकर नया शरीर प्रदान करती है। सूर्य मध्याह्न के उपरांत ढलने लगता है और अंततः अस्त हो जाता है यह प्रकृति का निश्चित क्रम है, किंतु इस कारण उत्पन्न हुआ अंधकार भी सदा ठहरता नहीं, प्रभातकालीन अरुणोदय उसका भी अंतर करके रहता है ॥ ६५-७२ ॥

पत्र शातनकाले च गते किसलयास्तथा।
सुमनांसि च रम्याणि मधुराणि फलान्यपि॥ ७३ ॥
उत्पद्यन्ते तथा नैवावसानं तिष्ठति क्वचित्।
चिरायास्य भजत्येव स्थानमभ्युदयः क्रमात्॥ ७४॥
व्यवस्थां नियतेरेनां जानता चिन्त्यतामिदम् ।
परिवर्तनमेषोऽत्र समयस्तु गमिष्यति ॥ ७५ ॥
देवसंस्कृतिसम्बद्धं गौरवं पुनरेव च ।
नवोत्कर्ष-सुयोगं च प्राप्स्यतीह सुनिश्चितम्॥ ७६ ॥

विज्ञैराशा च कर्त्तव्या सदोज्ज्वलभविष्यतः।
निराशैर्नैव भाव्यं च विपन्नासु स्थितिष्वपि ॥ ७७ ॥
निराशस्य जनस्यैवं तिष्ठतो न मनोबलम्।
पौरुषं च ततो हानिं भजतेव्यर्थमेव सः ॥ ७८ ॥
क्षतेः स्वनिर्मितायाः स्वं बुद्धिमान् रक्षति स्वयम्।
मनःस्थित्या तथा भाव्यमस्माकमपि संततम् ॥ ७९ ॥

टीका—पतझड़ के उपरांत पेड़ों पर नए कोपल ही नहीं, सुरम्य फूल और मधुर फल भी आते हैं। अवसान भी सदा नहीं रहते। उनका स्थान अभ्युदय भी यथा समय ग्रहण करता है। इस नियति व्यवस्था को समझाते हुए यह सोचा जाना चाहिए कि समय बदलेगा और देव संस्कृति की गरिमा का नए सिरे से उत्कर्ष, अभ्युदय का सुयोग बनेगा। विज्ञ जन को उज्ज्वल भविष्य की ही सदा आशा करनी चाहिए। विपन्न परिस्थितियों में भी निराश नहीं होना चाहिए। निराश व्यक्ति मनोबल और पुरुषार्थ दोनों ही खो बैठता है और अकारण घाटा उठाता है, इस स्वनिर्मित क्षति से हर बुद्धिमान अपने को बचाता है। हमारी मनःस्थिति भी वैसी ही रहनी चाहिए और यथासंभव सुधार-परिवर्तन की चेष्टा करनी चाहिए॥ ७३-७९ ॥

चेष्टितव्यं परिष्कर्तुं तथैव परिवर्तितुम् ।
अवोचंस्ते बुधाः श्रेष्ठस्त्रिकालज्ञो भवानिह ॥ ८० ॥
उपायं कृपया ब्रूतां येन स्याज्जीविता पुनः।
लोकमंगल सद्भावा दिव्यैषर्षिपरंपरा ॥ ८१ ॥
स्वरूपं नूतनं तस्यास्तथा स्याद् दृष्टिगोचरम्।
यथाऽभूच्च पुराकाले तीर्थक्षेत्रेषु सर्वदा ॥ ८२ ॥

परिवर्तनकाले च युगस्यैष महत्तमाम् ।
उवाह भूमिकां प्राणप्रवाहो हिमभूभृतः ॥ ८३ ॥
समयः कांक्षते तस्याः पुनरावृत्तिमेकदा ।
पुनरेव ततो ब्रूतामस्माभिः किं विधीयताम् ॥ ८४ ॥

टीका—मनीषि मंडल ने पूछा—आप ऋषियों के मूर्द्धन्य और त्रिकालदर्शी हैं। कृपया ऐसा उपाय बताइए जिससे लोक-मंगल की सद्भावना से युक्त ऋषिपरंपरा पुनर्जीवित हो सके। उसका अभिनव स्वरूप वैसा ही दृष्टिगोचर होने लगे जैसा कि पुरातनकाल में तीर्थ क्षेत्रों में सदा दृष्टिगोचर होता था। युग परिवर्तन के अवसर पर हिमालय-क्षेत्र का प्राण-प्रवाह सदा अपनी विशिष्ट भूमिका निभाता रहा है। समय की माँग उसी की पुनरावृत्ति की है। सो बताएँ कि हम लोगों को इस निमित्त क्या करना चाहिए ॥ ८०-८४ ॥

इमं हृदय सम्भूतं विचारं भवतामहम् ।
मन्ये परात्मनः प्राप्तमात्मनश्च विशेषतः ॥ ८५ ॥
प्रतीक्षा त्यज्यतामन्यैः कर्त्तव्यस्यात्र कर्मणः ।
ग्राह्यानां कर्मणामपि च मूकदर्शनभूमिकाम् ॥ ८६ ॥
स्वयं चैव शुभारंभः क्रियतामचिरेण तु ।
निःशंकमभियातव्यमत्रैकाकिभिरप्यलम् ॥ ८७ ॥
शूरैः सत्साहसैरग्रगामिनस्तु पदक्रमाः ।
न्यस्तास्ताननुजग्मुश्चासंख्यास्ते भावनायुताः ॥ ८८ ॥
भवितव्यं तदेवस्मिन् शुभे चावसरे पुनः ।
नवनिर्धारणेऽस्मिन् स्यात्प्रयासो भवतां मुखः ॥ ८९ ॥

पिपीलिका अपि घ्नन्ति संहत्या बलिनं गजम्।
कुर्वते रसयुक्तां च सरघां मधुमक्षिकाः॥ ९०॥
विहितं वानरैर्ऋक्षै रामकार्यमभूत्तदा।
गोपबालैः कृतं कृष्णकार्यं तत्सफलं महत्॥ ९१॥
सर्वेषां विदितं चैतद् देवसंयुक्तशक्तिजम्।
दुर्गावतरणं जातमृषिरक्त-निधेर्घटात् ॥ ९२॥
सीताया जन्मसञ्जातं व्याप्ता चासुरता ततः।
समाप्ताऽथ भवन्तःस्वान् मन्यन्तां नाल्पपौरुषान्॥ ९३॥

टीका—नारद जी ने कहा—आपके इस अंतःकरण में उद्भूत होने वाली विचारणा को हम आत्मा और परमात्मा का अपने लिए विशेष रूप से भेजा गया परामर्श मानें। अन्यान्यों के द्वारा कुछ किए जाने की प्रतीक्षा छोड़ें और अकर्मण्यों की तरह मूकदर्शक की भूमिका न निभाएँ, शुभारंभ अपने से करें। एकाकी चलें, साहसी शूरवीरों ने सदा से अग्रगामी कदम उठाए हैं, उनके पीछे अनायास ही अगणित भावनाशील चलते रहे हैं। इस अवसर पर भी वही होना चाहिए। इस नवनिर्धारण में आप सबका प्रयास प्रमुख रहना चाहिए। मिल-जुलकर प्रयास करने से चीटियाँ भी हाथी को मार सकती हैं और मधुमक्खियाँ भी रसभरा छत्ता बना सकती हैं। रीछ-वानरों द्वारा किया गया राम कार्य और ग्वालबालों द्वारा किया गया कृष्ण सहयोगी कार्य कितना सफल हुआ, यह सर्वविदित है। देवताओं की संयुक्तशक्ति से दुर्गा का अवतरण हुआ था। ऋषियों के रक्त संचय से घड़ा भरने पर सीता का जन्म हुआ और संव्याप्त असुरता का समापन हुआ था। आप लोग अपने को सामान्य न मानें॥ ८५-९३॥

संकल्पान् महतो ये तु कुर्वते पौरुषेषु च।
महत्स्वत्र प्रवर्तन्ते महान्तः कथितास्तु ते ॥ ९४॥

सफलं यशस्विनं देवो निर्मात्येषां पराक्रमम्।
भवन्तो यदि संनद्धाः कर्तुं च किमपि स्वतः॥ ९५॥
शुभं मुहूर्तमद्यैव ज्ञात्वा सर्वोत्तमं ततः।
संकल्पः क्रियतां विश्वकल्याणाभिमुखो द्रुतम्॥ ९६॥
किं कार्यं कः प्रकारश्च कुतः कार्यमिति क्रमात्।
श्रुत्वाप्रश्नान् महर्षिः स उदतारीच्च नारदः॥ ९७॥
स्मरन्त्वद्य भवन्तस्तां दिव्यामृषिपरंपराम्।
प्रयासास्तत्कृता ग्राह्याः कार्यं कार्यं च संहतैः॥ ९८॥
विवेकशीलताऽथापि दायित्वं सच्चरित्रता।
पराक्रमो भवद्भिः स आश्रितव्यः समैः सदा॥ ९९॥
महत्त्वाकांक्षया नैव पृथग् भूतैरसंहतैः।
कार्यं कर्तुं विचार्यं तु कदाचिदपि पूरुषैः॥१००॥
शक्तेरपव्ययो नूनं पृथग् भावात्तु जायते।
उद्भवः सहयोगाच्च प्रगतेस्तु प्रपद्यते॥१०१॥
तथ्यस्यास्य स्मृतावत्र स्वीकृतावपि विद्यते।
कल्याणं परमं नृणां न तु विस्मरणे क्वचित्॥१०२॥

टीका—महान संकल्प करने वाले और महान पुरुषार्थ में जुट पड़ने वाले महान कहलाते हैं। उनके पराक्रम को भगवान यशस्वी और सफल बनाते हैं। आप भी कुछ करने के लिए उद्यत हो सकें तो इसके लिए आज का मुहूर्त ही सर्वोत्तम है। विश्वकल्याणकारी संकल्प आप लें। क्या करना चाहिए, किस प्रकार करना चाहिए ? कहाँ से करना चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर में नारद जी ने कहा—आप लोग ऋषिपरंपरा का स्मरण करें। उनके द्वारा जो किया गया था, उन प्रयासों को अपनाएँ

और मिल–जुलकर काम करें। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी का आश्रय लें। महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर अलग–अलग काम करने की बात कभी न सोचें। बिखराव में शक्ति का अपव्यय और सहयोग से प्रगति का उद्भव होता है, इस तथ्य को स्मरण रखने और अपनाने में ही कल्याण है, विस्मरण में नहीं॥ ९४–१०२॥

पुरासप्तर्षयः सप्तस्रोतःक्षेत्रे तु पावने।
एकत्रिताः प्रयासैः स्वैर्व्यधुरुग्रं तपः समे॥ १०३॥
दुःस्थितीः कालजाः सर्वाः परिवर्तितुमन्ततः।
जातास्ते सफलास्तेन पूज्यतां ते गताः समे॥ १०४॥
तत्र स्थाने च गन्तव्यं भवद्भिरपि संगतैः।
प्रयासः सोऽनुकार्यः सा ग्राह्या दिव्या परंपरा॥ १०५॥

टीका—पुरातनकाल में सप्तऋषियों ने हरिद्वार की पावन भूमि में सप्तसरोवर नामक स्थान पर एकत्रित होकर संयुक्त प्रयासों से तपश्चर्या की थी और उस समय की बिगड़ी हुई परिस्थिति को बदलने–सुधारने में सफलता पाई थी तथा सभी के पूज्य बन गए। आप लोगों को भी वहाँ जाना और प्रयास–परंपरा का अनुसरण करना चाहिए॥ १०३–१०५॥

उपस्थिते समस्तेऽपि समुदाये स्थितास्तु ये।
सदस्यास्तत्र तैः व्यक्तिशः क्रमशस्ततः॥ १०६।
एकैकस्य महर्षेस्तु मंगलां तां परंपराम्।
कर्तुं प्रचलितां तत्र दायित्वं स्वीकृतं शुभम्॥ १०७॥
संहतैरेव सर्वैश्च कार्यं कर्तुं तथा ततः।
प्रतिज्ञातं यथा सत्ता प्रयासः स्यात्तु सुन्दरः॥ १०८॥

संयुक्तावयवैः पूर्तिः शरीरस्य निरंतरम्।
सदावश्यकतानां तु विविधानां विधीयते ॥ १०९ ॥
वयं तथा करिष्याम इति तैर्निश्चतं ततः।
एकस्त्वनुसरंस्तेषु पतञ्जलि-परंपराम् ॥ ११० ॥
कालानुकूलं कर्तुं तद् योगविज्ञानमुत्तमम्।
निश्चिकाय यतो गात्रं मृण्मयं स्वर्णतां व्रजेत्॥ १११ ॥
अपरो याज्ञवल्क्यस्य च्छिन्नप्रायां तु सर्वतः।
यज्ञविद्यामिहान्वेष्टुं योक्तुं निश्चयमागतः ॥ ११२ ॥
तृतीयश्चरकस्याथ वनौषध्युपयोगिताम् ।
कर्तुं मूर्तिमती तत्र दायित्वं तु गृहीतवान्॥ ११३ ॥

टीका—उपस्थित समुदाय में से प्रत्येक ने एक-एक ऋषि की मंगलमय परंपरा प्रचलित करने का शुभ उत्तरदायित्व अपने कंधे पर उठाया। सभी ने इस प्रकार मिल-जुलकर काम करने की शपथ उठाई, मानों वह एक सत्ता का ही संयुक्त प्रयास हो। समस्त अवयव मिलकर शरीर की अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वैसा ही हम सब भी करेंगे, ऐसा उन्होंने निश्चय किया। एक ने पतंजलि परंपरा का अनुसरण करते हुए योग विज्ञान को समयानुकूल बनाने का निश्चय किया, ताकि मिट्टी से विनिर्मित शरीर, दोषरहित सुवर्ण बन जाए। दूसरे ने ऋषि याज्ञवल्क्य की तरह यज्ञविद्या की टूटी हुई कड़ियों को फिर से खोजने और जोड़ने की प्रतिज्ञा की। तीसरे ने चरक की तरह वनौषधियों की उपयोगिता फिर से मूर्तिमान करने की जिम्मेदारी उठाई॥ १०६-११३ ॥

तीर्थानां च चतुर्थः स आरण्यकपरंपराम् ।
कर्तुं प्रचलितां कार्यं विधिना निश्चयं व्यधात्॥ ११४॥

पुरोधसां परिव्राजकानां दिव्या तु योजनाम् ।
प्रशिक्षणस्य निर्माणस्याऽकरोद् बहुसंख्यया ॥ ११५ ॥
प्रज्ञासंस्थानरूपे च देश-देशान्तरेष्वपि ।
युगतीर्थानि निर्मातुं निश्चितं दृढरूपतः ॥ ११६ ॥
पञ्चमो निश्चिकायाथ ज्योतिर्विज्ञानसंभवम् ।
आधारं तु समाश्रित्य प्रभावं ग्रहसंभवम् ॥ ११७ ॥
गृहीत्वा पौरुषं नव्यं कर्तुं किमपि तद्विधौ ।
शब्दशक्तेरहो मंत्रविज्ञानस्याथ तत्र तु ॥ ११८ ॥
षष्ठः कर्तुं च प्रत्यक्षं निश्चयं स्वं व्यधाच्छुभम् ।
वर्तते मंत्रविज्ञानं क्षमं सूक्ष्माभिबन्धने ॥ ११९ ॥

टीका—चौथे ने तीर्थों की आरण्यक परंपरा से संबंधित सभी प्रचलनों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया। पुरोहितों-परिव्राजकों का बड़ी संख्या में निर्माण तथा प्रशिक्षण की बनाई। युगतीर्थों को प्रज्ञा संस्थानों के रूप में देश-देशांतरों में विनिर्मित करने की ठान ली। पाँचवें ने ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर अंतर्ग्रही प्रभावों के साथ तालमेल बैठाने का पुरुषार्थ नए सिरे से करने का निश्चय किया। छठे ने शब्दशक्ति-मंत्र विज्ञान के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने की ठानी। मंत्र विज्ञान व सूक्ष्मतत्त्वों को शक्तियों को बाँधने उन्हें सद्बुद्ध करने में समर्थ हैं ॥ ११४-११९ ॥

आस्थासंकटमप्येष सप्तमश्चाश्रयन्नथ ।
तर्कतथ्यप्रमाणानि कर्तुं च जनमानसम् ॥ १२० ॥
परिष्कृतं स्वयं भारं वोढुं निश्चयमागतः ।
नाम प्रज्ञाभियानं च स्थापितं तस्य वै ततः ॥ १२१ ॥

पूर्वं सुनिश्चितस्याथ प्रभोः प्रेरणयाऽपि च।
क्रियान्वितमिदं कर्तुं सप्तर्षीणां स्थलस्य तु॥ १२२॥
निकटे कर्मठैर्विश्वचिन्तासंव्याप्त-मानसैः।
विशिष्टैर्निश्चयोऽकार्षीद् गायत्रीतीर्थ-संस्थिते॥ १२३॥

टीका—सातवें ने आस्था-संकट का निवारण करने के लिए तर्कों, तथ्यों और प्रमाणों के सहारे जनमानस के परिष्कार का भार अपने सिर पर वहन करने का निश्चय किया। इस संयुक्त प्रयास का नाम प्रज्ञा अभियान रखा गया। इसी पूर्व निश्चय व ईश्वर की प्रेरणा के वशीभूत होकर इसे कार्यान्वित करने के लिए प्रमुख सप्तऋषियों की तपस्थली के सन्निकट विश्वकल्याण की चिंता से युक्त कर्मठ व्यक्तियों ने गायत्रीतीर्थ स्थापित करने का निश्चय किया॥ १२०-१२३॥

उत्साहेन विशालेन निष्ठया च सहैव तु।
कर्मठास्ते सहैवाशु प्रस्थितास्तत्र सत्वरम्॥ १२४॥
स्थाने च नियते तस्मिन् समायाते च योजना।
पूर्वोक्ताः सप्तसंयुक्ताः स्थाने तच्छरणं गताः॥ १२५॥
प्रज्ञाभियानमायातं कर्तुमृषिपरंपराम्।
जीवितां पूर्णवेगेन चोत्साहेन बलीयसा॥ १२६॥
साफल्यं तस्य वीक्ष्यैतच्चकिताः सर्व एव तु।
पुरातनं पृथिव्यां च पुनः सत्ययुगं समे॥ १२७॥
आयातुं पूर्णमाधारमभियानमिदं शुभम्।
अमन्यन्त न यत्र स्याद् दुराचारादि-दूषणम्॥ १२८॥

टीका—अपूर्व उत्साह व निष्ठा से ये सभी कर्मठ व्यक्ति साथ-साथ चल पड़े। नियत स्थान पर पहुँचकर उपर्युक्त सातों

योजनाएँ संयुक्त होकर एक स्थान पर आ गईं और ऋषिपरंपरा को पुनर्जीवित करने वाला प्रज्ञा अभियान अत्यंत उत्साह के साथ तूफानी वेग से चल पड़ा। उसकी सफलता देखकर सभी चकित रह गए और पुरातन सतयुग को फिर से वापिस लौट आने का आधार प्रत्यक्ष देखने लगे, सभी ने सोचा अब दुराचार आदि नहीं रहेंगे॥ १२४-१२८॥

आशिषस्तु यथा दत्ता नारदेन हिमालये।
मंडलस्य सदस्येभ्यो विश्वासश्चापि बोधितः॥ १२९॥
महर्षेर्निश्चितं तेन संकल्पेनोत्तमेन तु।
सफलेनैव भाव्यं तत्साफल्यं गच्छतीह सः॥ १३०॥

टीका—नारद जी ने सभी को जैसा आशीर्वाद हिमालय में दिया था और विश्वास दिलाया था कि उनका संकल्प निश्चित रूप से सफल होना था, वह यहाँ सफल होने लगा॥ १२९-१३०॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देव संस्कृति खंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
महर्षि नारद प्रतिपादिते 'ऋषिपरंपरा पुनर्जीवन' इति प्रकरणो नाम
॥ सप्तमोऽध्यायः॥

॥ युगदेव-स्तवन ॥

अहो तां गायत्रीमखिल-जगदानंद निलयाम्
उपास्या-ब्रह्मासावसृजदमलां सृष्टिमधिकाम्।
मता या वेदानामपि निखिल विश्वस्य जननी,
सुशान्त्यै शान्तां तां जपत मनुजा! देवजननीम्॥ १ ॥

समस्त जगत के आनंद की आधारभूत जिस गायत्री की उपासना करके ब्रह्माजी ने सृष्टि रची। जिसे वेदमाता, देवमाता व विश्वमाता कहा जाता है। हे मनुष्यो! अपार शांति के लिए शांतस्वरूप उस गायत्री को भजो, उसका जप करो॥ १ ॥

त्रयो लोका यस्याश्चरण वरणास्तेऽपि च समे,
त्रयो देवास्तिस्रः प्रथितविभवा देव्य इति सा।
त्रिवेणी व्याख्याताऽक्षरगण इहाख्यातिमभजत्,
चतुर्विंशत्याहु ऋषित्रिदश-दिव्यावतरणाः ॥ २ ॥

जिसके तीन चरणों को तीन लोक, तीन देव, तीन वैभवशाली देवी-त्रिवेणी कहते हैं। जिसके चौबीस अक्षर अवतारों, देवताओं, ऋषियों के रूप में प्रख्यात हुए॥ २ ॥

सुदेव्याः संस्कृत्या इहनिगदिता मूलमखिलं,
बुधाः प्राहुः यां चामृतममरवृक्षं परमणिम्।
शिखासूत्रे यस्या दधुरमृतचिह्नं जपत तां,
युगप्रज्ञोन्मेषप्रबलकरुणां सिद्धिजननीम् ॥ ३ ॥

जो देव संस्कृति की मूल है। जिसे पारस, कल्पवृक्ष और अमृत कहा जाता है, जिसे शिखा-सूत्र के रूप में धारण किया जाता है। जो अमृत तत्त्वदायी चिह्न है, ऐसी युग परिवर्तन का उन्मेष करने में अत्यंत करुणामयी सिद्धिदात्री गायत्री को जपो॥ ३ ॥

अहो आद्यां शक्तिं कलियुगकला विस्मृततनुम्,
उपेक्षाक्षीणांताममृतनिधिकां बुद्धिविभवाम्।
महाप्रज्ञो ह्येनां पुनरुदधरद्देवसदृश,
ऋतां तुभ्यं युगपुरुष ! नः सन्तु नतयः ॥ ४॥

उस आद्यशक्ति को काल-प्रवचना से विस्मृत रूप वाली, उपेक्षित हुई ऋतंभरा प्रज्ञा का जिसने पुनरुद्धार किया, उस महाप्राज्ञ युगपुरुष को देव संस्कृति का, उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन वंदन॥ ४॥

सदा भास्वान् भूत्वा तपति गगने यज्ञ इह यो,
भृशं पर्जन्योऽयं यमनुसततं वर्षति रसम् ।
य ओतः प्रोतश्च प्रबलतमतत्प्राणमरुता,
तदेतद्देवत्वं श्वसिति कृपया यस्य हि चितेः॥ ५॥

जो यज्ञ सूर्य के रूप में तपता है। जिसके प्रताप से पर्जन्य बरसते हैं। जो प्राण-ऊर्जा से ओत-प्रोत है। जिसकी चेतना से देवत्व जीवित है॥ ५॥

यदङ्के देवानां गण उदयमासाद्य लुठति,
भृशं पोषं प्राप्य प्रखरतरतां याति सततम्।
निधिर्ऋद्धेः सिद्धेरपि च कथिता यत्र वपुषि,
तदोजस्तेजस्त्वे वसत इह वर्चोऽभिलषति॥ ६॥

देवगण जिससे उदय प्राप्त करते है, जिसकी गोद में जन्मते, पलते, प्रखर होते और समर्पण करते हैं। जो ऋद्धि-सिद्धियों का भंडार है। जिसमें ओजस्, तेजस् और वर्चस् के सभी तत्त्व विद्यमान हैं॥ ६॥

तिरस्कारं यातो विकृतिमभजद्यः कलिबलात्,
उपेक्षां संप्राप्तोऽप्यहह निखिलारोग्यसदनम्।

अहो विष्णुं यागं पुनरुदधरद् यो बुधवर!,
प्रणामास्तुभ्यं हे युगपुरुष ! नः कोटिश इमे ॥ ७ ॥

ऐसे कलि-विडंबना से उपेक्षित, तिरस्कृत, विकृत हुए आरोग्य के उत्पत्ति स्थल विष्णु रूप यज्ञ का जिसने पुनरुद्धार किया, उस महाप्राज्ञ युगपुरुष को देव संस्कृति का, उसके अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वंदन ॥ ७ ॥

अहो विश्वस्तानामिव हि हृदयं यस्य सरसं,
सदास्ते भक्तानामिव गहनमाचिन्तनमपि।
सदाब्रह्मज्ञानामिव च चरितं तदृषि समं,
प्रणामास्तुभ्यं हे युग-पुरुष ! नः कोटिश इमे ॥ ८ ॥

जिसका हृदय विश्वासी भक्त जैसा सरस, जिसका गहन चिंतन ब्रह्मवेत्ताओं जैसा, जिसका चरित्र ऋषियों जैसा, जो महाप्राज्ञ है, ऐसे युगपुरुष को हम करोड़ों भक्तों का प्रणाम ॥ ८ ॥

उपास्ते य ईशं ह्यविरतमहो जीवनविधौ,
सदासक्ते लोकाधिक - सुखसमाराधनविधौ।
सदादर्शादर्शो भुवि विदित सत्सौख्य विभवः,
प्रणामास्तुभ्यं हे युगपुरुष ! नः कोटिश इमे ॥ ९ ॥

जो ईश्वर उपासना, जीवन-साधना और लोक को सुखी करने की आराधना में संलग्न आदर्शों के लिए समर्पित स्वयं आदर्श (दर्पण) के समान हैं, उस महाप्राज्ञ युगपुरुष का, देव संस्कृति और उसके अनुचरों द्वारा कोटि-कोटि नमन-वंदन ॥ ९ ॥

य उत्सेहे पातोन्मुखमनुजसत्संस्कृतिमहो,
निरोद्धुं नाशस्य प्रबलतमगर्तादनलसः।
दधीचेर्व्यासस्य परशुधर शृंगिप्रथितयोर्,
दधौ रूपं यस्त्वां युगनर ! नताः कोटिश इमे ॥ १० ॥

जिसने पतनोन्मुख मानवी संस्कृति को महाविनाश के गर्त से बचाने का आलस्य त्यागकर एकाकी साहस किया। जिसने दधीचि, व्यास, परशुराम, शृंगी, पिप्पलाद की भूमिका निभाई, हे युगपुरुष ! आपको कोटि-कोटि हम अनुचरों का प्रणाम॥ १०॥

सुरर्षिं यो वाजिश्रवसमपि कार्यादनुगतं,
ऋषिं विश्वामित्रं मुनिवर वशिष्ठं सगरजम्।
ज्वलन्दीपान् स्नेहोद्‌भरित हृदयोऽज्वालयदसौ,
महावर्चः सन्तु युगपुरुष ! तुभ्यं प्रणतयः॥ ११॥

जिसने नारद, वाजिश्रवा, ऋषि विश्वामित्र, मुनिवर वसिष्ठ व सगर-वंशज भगीरथ की भूमिका एकाकी निभाई। जिसने स्वयं ज्वलंत होकर, स्नेहयुक्त होकर अगणित दीप जलाए, उस साहस के धनी, ब्रह्मवर्चस से ओत-प्रोत महाप्राज्ञ युगपुरुष को देव संस्कृति का, उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वंदन॥ ११॥

* * * * *

॥ युगदेव-स्तवन ॥

(हिंदी पद्यानुवाद)

भक्तों सदृश विश्वास जिसने निज हृदय में भर लिया।
शुभ चरित्र ऋषियों तुल्य, चिंतन ब्रह्मविद जैसा किया॥

घुल गया जिन इष्ट में कर भावसिक्त उपासना।
जीवन रसायन बन गया, ऐसी प्रखर की साधना॥

आराधना के भाव से करता रहा नित लोकहित।
हर श्वास जिसकी हो गई, आदर्श के प्रति समर्पित॥

सुविचार के संचार से, भ्रम का पराभव कर दिया।
सद्भाव से सुरभित, मुदित, कृतकृत्य जग को कर दिया॥

उस महाप्राज्ञ मनीषि को युगपुरुष, पावन गुण सदन।
युगसाधकों का, देव संस्कृति का सतत शत-शत नमन॥

पीड़ा-पतन से त्रस्त मानव संस्कृति के त्राण हित।
साहस अकेले कर गया, जो वीर नवनिर्माण हित॥

होकर स्वयं ज्योति जलाए दीप अगणित मानवी।
निज ब्रह्मवर्चस से मिटा दी क्रूर सत्ता दानवी॥

नारद, दधीचि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, व्यासादिक सहित।
जिसने निभाई भूमिका मूर्धन्य ऋषियों की महत्॥

भागीरथी तप, परशुधर-सी प्रखरता का जो धनी।
देवत्व के अनुदान जीवन नीति ही जिसकी बनी॥

उस महाप्राज्ञ मनीषि को, युगपुरुष, पावन गुण सदन।
युग साधकों का, देव संस्कृति का, सतत शत-शत नमन॥

॥ महाकालाष्टकम् ॥

असम्भवं सम्भव-कर्त्तुमुद्यतं,
प्रचण्ड-झंझावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

यदा धरायामशान्तिः प्रवृद्धा,
तदा च तस्यां शान्तिं प्रवर्धितुम्।
विनिर्मितं शान्तिकुञ्जाख्यतीर्थकं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

अनाद्यनन्तं परमं महीयसं,
विभोः स्वरूपं परिचाययन्मुहुः।
युगानुरूपं च पथं व्यदर्शयत्,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

उपेक्षिता यज्ञमहादिकाः क्रियाः,
विलुप्तप्रायं खलु सान्ध्यमाह्निकम्।
समुद्धृतं येन जगद्धिताय वै,
परं महाकालममुं नमाम्यहम्॥ ४॥

तिरस्कृतं विस्मृतमप्युपेक्षितं,
आरोग्यवाहं यजनं प्रचारितुम्।
कलौ कृतं यो रचितुं समुद्यतं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ५ ॥

तपः कृतं येन जगद्धिताय वै,
विभीषिकायाश्च जगन्नु रक्षितुम्।
समुज्ज्वला यस्य भविष्य-घोषणा,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ६ ॥

मृदुह्युदारं हृदयं नु यस्य यत्,
तथैव तीक्ष्णं गहनं च चिन्तनम्।
ऋषेश्चरित्रं परमं पवित्रकं,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ७ ॥

जनेषु देवत्ववृत्तिं प्रवर्धितुं,
नमो धरायाश्च विधातुमक्षयम्।
युगस्य निर्माणकृता च योजना,
परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ८ ॥

यः पठेच्चिन्तयेच्चापि, महाकाल-स्वरूपकम्।
लभेत परमां प्रीतिं, महाकालकृपादृशा ॥ ९ ॥

॥ महाकालाष्टक ॥

(हिंदी पद्यानुवाद)

असंभव पराक्रम के हेतु तत्पर,
विध्वंस का जो करता दलन है।
नवयुग सृजन पुण्य संकल्प जिसका,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ १॥

भू पर भरी भ्रांति की आग के बीच,
जो शक्ति के तत्त्व करता चयन है।
विकसित किए शांतिकुंजादि युगतीर्थ,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ २॥

अनादि, अनुपम, अनश्वर, अगोचर,
जिनका सभी भाँति अनुभव कठिन है।
युगशक्ति का बोध सबको कराया,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ३॥

विस्मृत-उपेक्षित पड़ी साधना का,
जिनने किया जागरण-उन्नयन है।
घर-घर प्रतिष्ठित हुई वेदमाता,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ४॥

यज्ञीय विज्ञान, यज्ञीय जीवन,
जो सृष्टि-पोषक दिव्याचरण है।
उसको उबारा प्रतिष्ठित बनाया,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ५॥

मनुष्यता के दुःख दूर करने,
तपकर कमाया परम पुण्य धन है।
उज्ज्वल भविष्यत् की घोषणा की,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ६॥

अनीति भंजक शुभ कोप जिनका,
शुभ ज्ञानयुत श्रेष्ठ चिंतन गहन है।
ऋषि कल्प जीवन जिनका परिष्कृत,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ७॥

देवत्व मानव-मन में जगाकर,
संकल्प भू पर अमरपुर सृजन है।
युग की सृजन योजना के प्रणेता,
ऐसे महाकाल को नित नमन है॥ ८॥

महाकाल की प्रेरणा, श्रद्धायुत चित लाय,
नर पावे सद्गति परम, त्रिविध ताप मिट जाएँ॥ ९॥

*****

हमारे आर्षग्रंथ

परमपूज्य गुरुदेव ने समय की आवश्यकता को देखकर जिस प्रकार 'गायत्री' एवं 'यज्ञ' को जनसुलभ बनाया। इसके लिए गायत्री महाविज्ञान तथा यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान जैसे ग्रंथ तैयार किए। उसी प्रकार उन्होंने आर्ष वाङ्मय को भी जनसामान्य के लिए समझ सकने योग्य स्वरूप दिया। जनसुलभ भाषा तथा क्रय सुलभ मूल्य उसकी विशेषता रही। इस क्रम में चारों वेद, १०८ उपनिषद्, छह दर्शन, २४ गीता, २० स्मृति, ब्राह्मण, आरण्यक, १८ पुराण, योगवासिष्ठ आदि ग्रंथों का प्रकाशन हुआ।

कालांतर में वंदनीया माताजी ने शांतिकुंज **वेद विभाग** के माध्यम से इन आर्षग्रंथों को पुनः संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण के रूप में प्रकाशित कराया। उनमें वेद ज्ञान संबंधी भ्रांतियों का निवारण, वैज्ञानिक पाद-टिप्पणियों एवं ऋषि, देवता, छंद के परिचयात्मक परिशिष्ट आदि विशेषताओं को जोड़ा गया। वर्तमान समय में उनका विवरण इस प्रकार है—

ऋग्वेद चार भागों में, यजुर्वेद-सामवेद एक-एक भाग में तथा अथर्ववेद दो भागों में (कुल आठ जिल्द में), १०८ उपनिषदें—ज्ञान खंड, साधना खंड एवं ब्रह्मविद्या खंड के रूप में (कुल तीन जिल्द में) एवं छह दर्शन सांख्य एवं योग, न्याय एवं वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत (कुल चार जिल्द में) प्रकाशित हुए हैं। अन्य आर्षग्रंथों के प्रकाशन का क्रम भी सतत चल रहा है।

इन संशोधित-परिवर्द्धित आर्षग्रंथों को शांतिकुंज हरिद्वार, गायत्री तपोभूमि मथुरा तथा अन्य हमारे केंद्रों से प्राप्त किया जा सकता है। ये ग्रंथ लागत मूल्य पर ही उपलब्ध हैं, जिसका विवरण इस प्रकार है—चारों वेद, ८ जिल्द, प्रत्येक का मूल्य १२५रुपये, १०८ उपनिषदें, ३ जिल्द, प्रत्येक १२५ रुपये, सांख्य-योगदर्शन-७०रुपये, न्याय-वैशेषिक दर्शन—१००रुपये, मीमांसा दर्शन—१७५रुपये तथा वेदांत दर्शन—९०रुपये का है। वेद एवं उपनिषद् सैटों में तथा फुटकर दोनों तरह से उपलब्ध हैं।